

हे हिन्दू राष्ट्र
उत्तिष्ठत! जाग्रत!!



स्वामी विवेकानन्द
का
हे हिन्दू राष्ट्र उत्तिष्ठत ! जाग्रत !!

सङ्कलनकर्ता
एकनाथ रानडे

अनुवादक
देवेन्द्रस्वरूप अग्रवाल

संकलनकर्ता की ओर से

आज से सौ वर्ष पूर्व अवतरित स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी मनाने के लिए सम्पूर्ण देश में बड़े उत्साह के साथ तैयारियाँ की जा रही हैं। अतः उस महान् योगी के जीवन एवं उपदेशों का पुनः अध्ययन एवं मनन करने की प्रबल इच्छा भी समाज में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के महान शिष्य के रूप में, विगत छः शताब्दियों में वे प्रथम हिन्दूधर्म प्रचारक संन्यासी थे जो देश-देशान्तरों में गये और जिन्होंने हिन्दू राष्ट्र के सनातन धर्म का संदेश पुनः विश्व को दिया। एक महान देशभक्त, समाज सुधारक और संगठक के अतिरिक्त राष्ट्रीय पुनरुत्थान की शक्तियों को संगठित एवं परिचालित करनेवाले वे प्रथम व्यक्ति थे और उन्होंने अंग्रेजी शासन के प्रथम आघात से विश्रृंखलित और पराभूत राष्ट्र के पुनर्निर्माण का पथ-प्रशस्त किया। उन्होंने ही देश को उसके चेतना केन्द्र 'धर्म' के प्रति जागरूक कर पुनर्जाग्रत भारत की आधारशिला रखी और आध्यात्मिक भारत के उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने इस बात का दृढ़ शब्दों में प्रतिपादन किया कि केवल धर्म के चारों ओर ही हिन्दू राष्ट्र को उसके लक्ष्यानुकूल दिशा में प्रभावकारी ढंग से संगठित किया जा सकता है।

पर जिस समय भारतीय जनसमाज उक्त महापुरुष के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने की तैयारी कर रहा था और शताब्दी समारोह समितियाँ कुछ सक्रिय हुई थीं तभी राष्ट्र को प्रबल धक्का लगा और उसने यह अनुभव किया कि उसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्तर से आये विश्वासघाती और बर्बर शत्रु के संगठित आक्रमण का प्रतिकार करने में लगानी है। एक ओर तो चीन द्वारा हमारे ही छिने हुए भू-भाग के बारे में समझौता एवं मैत्री-वार्ता के आवरण में की गई शत्रुता, युद्ध की तैयारियाँ तथा दूसरी ओर हमारे शासकों की स्वप्निल और काल्पनिक जगत् में विचरण करने की प्रवृत्ति के कारण उस समय देश पूर्णतया हक्का-बक्का रह गया, जब शत्रु ने हिमालय को लाँघकर व्यापक एवं नग्न आक्रमण किया।

आज की यह परिस्थिति स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को एक नया महत्व प्रदान करती है। इसका कारण यह है कि उनका सन्देश शक्ति का था जिसमें शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति और इच्छा-शक्ति का समावेश किया गया था। यही शक्ति आज के समय की सबसे महती आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे राष्ट्र-शरीर की रचना करना चाहते थे "जिसकी माँसपेशियाँ लोहे की और शिराएँ इस्पात की बनी हों और

उसके अन्दर वज्र के समान मस्तिष्क हो।” वे अपने देशवासियों के अन्दर शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य के साथ ही ब्रह्म-तेज का आरोपण कर उसका विकास करना चाहते थे। संक्षेप में, यही वे वस्तुएँ हैं जिनकी इस विनाश और संकट के काल में हमें सर्वाधिक आवश्यकता है और यही वे गुण हैं जिनकी स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात विदेशों से उधार लिये गए भौतिकवादी दर्शन और ऐहिक जीवन को ही सार-सर्वस्व समझने के कारण हमारे द्वारा सतत अवहेलना एवं उपेक्षा की गई है।

यदि हम संक्षेप में स्वामीजी की शिक्षाओं का निरूपण करना चाहें तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने हमें एक महान् मन्त्र दिया; और वह यह कि ईश्वर में विश्वास करो, अपने आप में विश्वास करो। अपने आप में विश्वास का भाव उपनिषदों के इस महान् सत्य पर आधारित है जो उद्घोष करता है कि “मैं आत्मा हूँ, मुझे तलवार काट नहीं सकती, कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती और न वायु सुखा सकता है। मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ।” यही वह मन्त्र है जिसे स्वामी विवेकानन्द अपने देशवासियों के कानों में सतत फूँकते रहे। उन्होंने जो कुछ कहा अथवा उपदेश दिया उसका आधार यही मन्त्र था। यही समय है जब हमें इस मन्त्र के आभ्यन्तरिक अर्थ को हृदयंगम कर उसका अनुसरण करना चाहिए। यदि हमने ऐसा किया तो पृथ्वी पर विद्यमान कोई शक्ति हमें पराभूत नहीं कर सकेगी।

उन्होंने इसके पश्चात घोषणा की कि मोक्ष प्राप्ति के लिए हमें पहले अपने धर्म का पालन करना होगा। वस्तुतः धर्म के बिना मोक्ष प्राप्ति होती भी नहीं। आज जबकि अपने अज्ञान के कारण हमें अपना धर्म भारस्वरूप प्रतीत हो रहा है इस सत्य का पुनराग्रह और भी अधिक आवश्यक हो गया है। इस प्रकार, वास्तव में उन्होंने न केवल गृहस्थ के जीवन को पुनर्व्यवस्थित किया वरन् उसे एक नवीन गौरव भी प्रदान किया। उन्होंने अपने देशवासियों को उन शास्त्रों का स्मरण दिलाया जो ‘वीरभोग्या वसुन्धरा’ का उद्घोष करते हैं और वीर-वृत्ति को प्रगट करने का आदेश देते हैं। स्वामीजी हमें यह स्मरण रखने का निर्देश देते हैं कि शास्त्रों में हमें उन नैतिक परिस्थितियों की, जिनके अन्तर्गत हम रह रहे हैं और हमें कार्य करना है, सत्ता को स्वीकार करके चलने को कहा गया है। अपनी परिस्थितियों एवं वातावरण को इस प्रकार स्वीकार करके ही हम उनका सुधार करने एवं उन्हें ऊपर उठाने की आशा कर सकते हैं। अतः स्वामीजी ने अपने देशवासियों से शास्त्राज्ञा को विस्मरण न करने का आग्रह कर कहा कि परिस्थितियों के अनुरूप साम-दाम-दण्ड और भेद के राजनीतिक उपायों का उपयोग कर अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करते हुए संसार का उपभोग करो तभी तुम सच्चे धार्मिक कहला सकोगे अन्यथा अपमानों को सहकर तुम एक तिरस्कृत जीवन बिताने

को बाध्य होओगे। जब अपनी इच्छानुसार कोई भी व्यक्ति तुम्हें दुत्कारे या अपमानित करे तो तुम्हारा यह जीवन तो नरकमय हो ही जायेगा, परलोक भी सुखमय नहीं हो सकेगा।

अपने इतिहास के उस कठिन काल में जबकि सम्पूर्ण राष्ट्र अपनी अमूल्य स्वाधीनता, अपनी श्रेष्ठ जीवन-प्रणाली, अपने स्वधर्म और अपने भवितव्य के रक्षार्थ शस्त्र उठाने को बाध्य हुआ है, स्वामीजी का यह सन्देश हमारे निश्चय को दृढ़ एवं हमारी शिराओं को वज्रतुल्य बनाने में बहुत अधिक सहायक होगा। उन्होंने पुनः हमें सन्देश दिया कि “भारत की राष्ट्रीय एकता देश की विभिन्न आध्यात्मिक शक्तियों के एकत्रीकरण द्वारा ही सम्भव है।” उनका मत था कि “भारत के राष्ट्रीय ऐक्य के लिए समान आध्यात्मिक राग से झंकृत हृदयों का मिलन अनिवार्य है।” इस सन्देश का हमें विशेष रूप से मनन करना होगा, विशेषकर आज की परिस्थिति में जबकि राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्तियों का त्वरित सक्रिय होना सबसे बड़ी आवश्यकता बन गई है।

स्वामीजी ने हिन्दू राष्ट्र को एक और सन्देश दिया। उन्होंने हमें अपने हृदयों के अज्ञान-तम को दूर करने का आह्वान किया। इसका कारण यह है कि तम अथवा अज्ञान ही शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, रुढ़िवादिता, मानसिक क्षुद्रता, पारस्परिक कलह और हृदय दौर्बल्य जैसे दोषों को उत्पन्न करता है। इन दोषों से मुक्त होकर हम शक्तिशाली संगठन और एकता की अभेद्य चट्टान खड़ी करके अपनी पृथक्-पृथक् इच्छाओं के समन्वयीकरण द्वारा अतीत से भी श्रेष्ठ भविष्य का निर्माण करने में सफल हो सकेंगे। स्वामीजी का यह सन्देश भी अत्यन्त सामायिक है। इसका कारण यह है कि जिस संकटपूर्ण स्थिति का हम सामना कर रहे हैं, ऐसे समय में ही राष्ट्रों को आत्म-निरीक्षण और अतीत का पुनर्वेक्षण करने का अवसर मिलता है।

समय की इसी आवश्यकता-पूर्ति के लिए इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। स्वामीजी के उपदेशों और लेखों में दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र और कला, संगीत एवं पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री भी समाविष्ट है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित विषय लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं। किन्तु इस पुस्तक के प्रकाशन का सीमित उद्देश्य होने के कारण उन्हीं अंशों का संकलन किया गया है जो अपने अतीत की गौरवगाथा से सम्बद्ध हैं और जिनमें राष्ट्र की दुरावस्था के कारणों का विवेचन करते हुए स्वर्णिम एवं उज्ज्वल भविष्य-निर्माण करने का संकेत किया गया है। अतः उनके उपदेशों और लेखों को विषय के अनुसार एकरूपता प्रदान करने के लिये नये सिरे से क्रमबद्ध किया गया है। साथ ही सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व के उन अंशों का

चयन किया गया है, जिन्हें उनके मूल भाग से पृथक करने पर भी वे अपना अर्थ न खो बैठें।

इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य केवल स्वामीजी के विचारों का संकलन कर उनके सन्देश को बिना किसी व्याख्या के उनके शब्दों में ही प्रस्तुत करना था। अतः, प्रस्तुत प्रत्येक पंक्ति स्वामीजी के शब्द हैं।

संकलनकर्ता ने केवल सामग्री को क्रमबद्ध करते हुए विषयानुसार उनका वर्गीकरण मात्र किया है। इसी प्रकार विषय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय स्थलों पर सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अतः पाठकों को स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रत्येक अंश को उद्धरण के रूप में क्यों नहीं दिया गया। वास्तव में तो पूरी पुस्तक ही उद्धरण के रूप में है। इस पुस्तक की सामग्री के चयन के लिए 'अद्वैत आश्रम' द्वारा प्रकाशित "The Complete Works of Swami Vivekananda," "Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples" जैसे अधिकृत ग्रन्थों तथा पूज्य स्वामीजी के जीवनकाल से ही प्रकाशित होने वाले 'प्रबुद्ध भारत', 'ब्रह्मवादिन' और 'उद्धोधन' के पुराने अंकों के साथ ही तत्कालीन कतिपय पत्र-पत्रिकाओं का भी आश्रय लिया गया है। अतः पाठकों को स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रत्येक अंश को उद्धरण के रूप में क्यों नहीं दिया गया।

पुस्तक का वर्गीकरण सामग्री के अनुसार विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है; ये हैं - (१) सन्देश, (२) सम्भाषण, प्रवचन एवं लेखों से संकलित (३) चिन्तन-कण एवं प्रताड़ना तथा (४) मनुष्य-निर्माण अथवा कार्यकर्ताओं का गठन।

(१) सन्देश : पुस्तक का यह भाग मुख्य रूप से पूज्य स्वामीजी के राष्ट्र-चिन्तन से सम्बद्ध है। यह एक प्रकार से स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित 'थीसिस' है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उनके असंख्य भाषणों, वार्तालापों, पत्रों और लेखों में से संकलित किया गया है। यद्यपि यह विभिन्न स्थानों से लिये गए अंशों का एकत्रीकरण मात्र है तथापि इन्हें 'मुजाइक-फर्श' के समान इस ढंग से सँजोया गया है मानों यह पूज्य स्वामीजी के विचारों का स्वयंपूर्ण भाग हो।

(२) सम्भाषण, प्रवचन एवं लेखों से संकलित : इस भाग में अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों पर स्वामीजी द्वारा व्यक्त किये गए उन विचारों को समाहित किया गया है जो उनके 'सन्देश' से सम्बद्ध तो अवश्य हैं पर जिनको प्रथम भाग में समाहित नहीं किया जा सकता था अथवा जिनका उल्लेख मात्र उक्त भाग में किया गया है।

(३) चिन्तन-कण एवं प्रताड़ना : इस अध्याय में सम्मिलित उद्धरणों का उद्देश्य पाठकों को स्वामीजी के मस्तिष्क की चिन्तनशीलता एवं हृदय की अनुभूतियों से परिचित कराना है। इन अंशों का मनन पाठकों को किसी भी समस्या के प्रति स्वामीजी के शान्त और सुस्पष्ट विचारों की तह में विद्यमान उनकी भावशीलता का अनुभव कराने में सहायक होगा।

(४) मनुष्य निर्माण अथवा कार्यकर्ताओं का गठन : अपनी सभी रचनाओं अथवा उपदेशों में स्वामीजी ने राष्ट्र-निर्माण का कार्य करने के इच्छुक कार्यकर्ताओं के गठन एवं उनके मस्तिष्क और हृदय के आवश्यक गुणों का इतस्ततः उल्लेख किया है। इन सभी शिक्षाप्रद संकेतों को विभिन्न शीर्षकों, जैसे (१) संगठन (२) नेतृत्व (३) सच्चा मार्गदर्शक और (४) सफल जीवन का रहस्य अथवा कर्म-कौशल के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी के सन्देश के क्रियात्मक पक्ष से सम्बद्ध होने के कारण ही इन्हें यहाँ उद्धृत किया गया है।

यद्यपि कुछ निश्चित विषयों को प्रस्तुत करने के निश्चय के कारण सामग्री के चयन का क्षेत्र सीमित हो गया था, फिर भी प्रत्येक प्रस्तुत विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। अतः स्वाभाविक रूप से संकलनकर्ता को उक्त समस्त सामग्री को समाहित करने के लोभ का संवरण करने की कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। कारण, यदि सम्पूर्ण महत्वपूर्ण सामग्री को पुस्तक में समाहित किया जाता तो स्यात् पुस्तक का मूल्य हमारे बहुत से पाठकों की क्रय शक्ति से परे हो जाता। लेकिन संकलनकर्ता और प्रकाशक दोनों ही पुस्तक का मूल्य, जहाँ तक सम्भव हो, कम-से-कम रखना चाहते थे जिससे अधिकाधिक व्यक्ति स्वामीजी के विचारों से लाभ उठा सकें। हमें यह आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के अन्दर स्वामीजी के उपदेशों का विस्तृत अध्ययन करने की जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा जगायेगी और उनमें से अधिकांश लोग 'अद्वैत आश्रम' द्वारा प्रकाशित 'स्वामी विवेकानन्द के सम्पूर्ण साहित्य' को पढ़ने के लिये प्रेरित होंगे।

कलकत्ता

एकनाथ रानडे

मकर संक्रान्ति संवत् २०१९

१४ फरवरी, १९६३

विशेष संस्करण पर प्रकाशक का मनोगत

सन १९६३ में स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के दौरान माननीय एकनाथजी रानडे ने स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थ हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत जाग्रत!! का संकलन कार्य किया व इसे राष्ट्र को समर्पित किया। स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणादायी व उत्साहबर्धक सन्देश को भारत के आम-जन तक पहुँचाना ही इस कार्य का उद्देश्य था। वैचारिक स्तर पर यह पुस्तक एक मील का पत्थर साबित हुई।

कन्याकुमारी में समुद्र के बीच भव्य विवेकानन्द शिला स्मारक का निर्माण इस ऐतिहासिक शताब्दी समारोह का सबसे उल्लेखनीय कार्य था। इसी पवित्र शिला पर सन् १८९२ में स्वामी विवेकानन्द को ध्यानावस्था में अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त हुआ था और उसी क्षण उन्होंने सन् १८९३ में शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में सहभागी होने के लिए अमरीका जाने का निर्णय लिया था। यह स्मारक एक कृतज्ञ राष्ट्र की ओर से उस देशभक्त-संत को दी गई श्रद्धांजलि थी, जिसने भारत को न केवल उसके उद्देश्य का स्मरण कराया, वरन राष्ट्रों के वैश्विक समुदाय में इसे जगद्गुरु के रूप में पुनः प्रतिष्ठित भी किया। हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत जाग्रत!! तथा विवेकानन्द शिला स्मारक के बीच संबंध अत्यंत प्रेरणादायी है।

इस शिला पर स्वामी विवेकानन्द के स्मारक निर्माण का प्रयास कर रहे कन्याकुमारी के लोगों को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। इन बाधाओं से निपटने का चुनौतीपूर्ण कार्य माननीय एकनाथजी रानडे को सौंपा गया था और संयोग की बात है कि उन्हें यह कार्य, हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत जाग्रत!! के संकलन का कार्य पूर्ण करने के बाद मिला, अर्थात् उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के विचारों से परिपूर्ण होकर यह कार्य अपने हाथों में लिया, उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए स्वामी विवेकानन्द के विचारों को कार्यों में परिणत करने के लिए यह उत्तरदायित्व लिया। महान संतों के आशीर्वाद और विभिन्न संगठनों के कार्यकर्ताओं के समर्थन से एकनाथ जी स्वामी विवेकानन्द के उत्साहपूर्ण आह्वान को पूरे भारत के लोगों तक पहुँचाने में सफल हुए। इस अर्थ में उत्साहपूर्ण आह्वान कर उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र को स्मारक निर्माण के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार यह ग्रन्थ हे हिन्दू राष्ट्र उत्तिष्ठत ! जाग्रत!! स्वामी विवेकानन्द के संदेश का संकलन-मात्र नहीं, वरन यह राष्ट्र के पुनर्निर्माण के कार्य में सफलता की एक व्यावहारिक मार्गदर्शिका ही है।

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयंती मनाने की तैयारियाँ चल रही हैं और इस समारोह की विषय-वस्तु है 'भारत जागो! विश्व जगाओ!!' हम जानते हैं कि भारत इस समय अनेक मोर्चों पर चुनौतियों का सामना कर रहा है, हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत् जाग्रत!! में स्वामी विवेकानन्द का वह संदेश है, जो भारत को पुनः एक बार अपनी याद दिलाकर जाग्रत कर सकता है और जिसकी प्राप्ति के लिए यह हमें अग्रसक्रिय बना सकता है। अतः इस अवसर पर विशेष संस्करण प्रस्तुत करते हुए हम अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द के काल में उनके कार्य व संदेश ने भारत को उसका सम्मान व स्वाभिमान पुनः प्रदान किया। वह पहली विवेकानन्द लहर थी। उस लहर ने भारत की स्वतंत्रता के आन्दोलन को गतिशील किया। दूसरी लहर स्वामी विवेकानन्द के जन्म शताब्दी के समय उत्पन्न हुई। उस आयोजन के दौरान उनके विचारों के प्रसार से हमें हमारी सैन्य- पुनः प्राप्त करने और हमारी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करने में सहायता मिली। चीन से युद्ध में हुई पराजय के बाद हमारा खोया हुआ आत्मविवास इस आयोजन से हमने पुनः प्राप्त किया। उसके बाद से, भारत लगातार एक सैन्य व आर्थिक के रूप में उभरता गया।

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जयंती का आयोजन तीसरी लहर के आगमन का समय है। इस बार इसका उद्देश्य है, हमारे ऋषियों द्वारा किए गए उद्घोष - कृष्णन्तो विश्वं आर्य - 'समस्त विश्व को सुसंस्कृत बनाएं', में निहित सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आत्मविश्वास पुनः प्राप्त करना, यही भारत का वास्तविक लक्ष्य है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, भारत समस्त विश्व को सद्भाव का मंगलमय संदेश तभी दे सकता है, जब संपूर्ण राष्ट्र अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों को संगठित कर ले... और हम सभी का हृदय एक समान आध्यात्मिक धुन पर स्पंदित होने लगे।

आशा है कि हे हिन्दू राष्ट्र! उत्तिष्ठत् जाग्रत!! का यह विशेष संस्करण इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में सफल होगा!

२७ सितंबर, २०१२

प्रकाशक

(विश्व धर्म संसद के समापन अवसर का स्मरणोत्सव)

स्वामी विवेकानन्द सार्धशती समारोह

स्वामी विवेकानन्द : जाग्रत भारत के भविष्यदृष्टा

स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम देशों के प्रवास की शुरुआत के समय १८९३ में धर्म संसद में अपने विश्वस्तुत्य सम्बोधन से मातृभूमि के खोये हुए आत्मसम्मान, गौरव और ध्येय को पुनः प्रतिष्ठित किया। वापस लौटने पर उन्होंने भारत से आह्वान किया- ‘उठो! जागो! और लक्ष्य प्राप्ति तक रुको मत!’ यह पहला वैचारिक आंदोलन था।

‘भारत जागो! विश्व जगाओ!!’ भारत को दिये उनके इस संदेश ने पूरे देश में विद्युतशक्ति का संचार कर दिया। इसने राष्ट्रीय चेतना को पुनः जाग्रत कर दिया और अनेक लोगों को शिक्षा, सामाजिक सुधार व आध्यात्मिक सेवा के क्षेत्र में कार्य करने के लिये, साथ ही साथ भारत की स्वतंत्रता हेतु संघर्ष करने के लिये प्रेरित किया।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और संदेशों से प्रेरित दूसरा वैचारिक आंदोलन १९६३ में प्रकट हुआ, जब पूरे देश ने उत्साहपूर्वक उनकी जन्मशताब्दी मनाई। शताब्दी समारोह की प्रखर चेतना में सम्पूर्ण राष्ट्र कन्याकुमारी के तट पर समुद्र में स्थित शिला पर भव्य विवेकानन्द शिला स्मारक को मूर्तरूप देने के लिये एकजुट हुआ।

स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जयंती पर ‘स्वामी विवेकानन्द सार्धशती समारोह’ के नाम से किया जा रहा भव्य आयोजन उनके प्रेरक संदेशों को अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाने के तीसरे वैचारिक आन्दोलन का महान अवसर है। यह समारोह १२ जनवरी, २०१३ से १२ जनवरी, २०१४ तक भारत जागो! विश्व जगाओ!! के ध्येय को लेकर आयोजित रहा है।

भारत जागो! विश्व जगाओ!!

सदियों से भारत जगद्गुरु के रूप में विश्वभर में प्रतिष्ठित रहा है। वर्तमान वैश्विक परिस्थितियाँ सहअस्तित्व व एकत्व के जीवन-दर्शन की खोज में हैं, तब विश्व को आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने हेतु नियति ने भारत को चुना। आज जब भारत महान आर्थिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है, इसलिए यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्तियों को पहचाने और एकात्मता के वेदान्तिक दृष्टिकोण में व्यक्त आध्यात्मिक संदेश संपूर्ण विश्व तक पहुँचाने में सक्षम बने।

यह समारोह सभी आध्यात्मिक और सेवा संगठनों के साथ मिलकर देश भर में आयोजित किया जायेगा। इस वृहत् आयोजन के लिए अखिल भारतीय स्तर पर तथा सभी राज्यों में

स्वामी विवेकानन्द सार्धशती समारोह समितियों का गठन हुआ है। सामाजिक समरसता को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से समाज के सभी अंगों के सहभाग को सुनिश्चित करने के लिये पाँच विभागों में पंचमुखी कार्यक्रमों की योजना बनाई है।

१. युवा शक्ति – युवाओं के लिए आयाम

विशाल युवा शक्ति (मुख्यतः ४० वर्ष से कम आयु के विद्यार्थी एवं अविद्यार्थी युवाओं पर केंद्रित) को जाग्रत कर सही दिशा देने के लिए : सेवा, स्वाध्याय, सुरक्षा और स्वावलंबन।

२. संवर्धिनी – महिलाओं के लिए आयाम

जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिये; स्त्री क्षमता के संवर्धन और सम्मान के लिए : शक्ति, संस्कार, स्वाध्याय और सेवा।

३. ग्रामायण – ग्रामीणों के लिये आयाम

देश के विकास में ग्रामीणों के योगदान का सम्मान और उनके सम्पूर्ण विकास में सहयोग करने के लिए : विकास, समरसता, सत्संग और सेवा।

४. अस्मिता – जनजाति वर्ग (पर्वतीय एवं वनवासी क्षेत्र के लोगों के लिए आयाम)

भारत की सभी जनजातियों की लोक आस्था और संस्कृति का सम्मान, संरक्षण, संवर्धन, उन्नति और अनुपालन के लिए – सेवा, संस्कार, समरसता और सजगता।

५. प्रबुद्ध भारत – सामाजिक एवं वैचारिक प्रबुद्ध वर्ग के लिए आयाम

राष्ट्र निर्माण में संभ्रान्त और विद्वतजनों की संयुक्त व नियोजित भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए : सामर्थ्य, संकल्प, शुचिता और विश्वास।

अनुक्रम

भाग - 1

सन्देश

▲ हमारी पुण्यभूमि और उसका गौरवमय अतीत	17
▲ अतीत से वर्तमान की ओर	25
▲ धर्म : भारत की आत्मा	35
▲ पुनरुत्थान का कार्य : आधार और दिशा	43
▲ पुनरुद्धार कार्य में रत कार्यकर्ताओं से	64
▲ पुनरुत्थान का कार्य - १. : नींव-निर्माण	75
▲ पुनरुत्थान का कार्य - २. : कार्य-योजना	90

भाग - 2

सम्भाषण, प्रवचन एवं लेखों से संकलित

▲ हिन्दू- धर्म की मर्यादाएँ	107
▲ भारतीय नारी- उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य	110
▲ सभ्यताओं का ताना-बाना	116
▲ हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है	116
▲ आर्यों के आगमन का मिथ्या सिद्धान्त	116
▲ रामायण आर्यों द्वारा अनार्यों की विजय का उपाख्यान नहीं	118

भाग - 3

स्फुट विचार एवं प्रताडना

स्फुट विचार

▲ प्रत्येक पुराण में महासत्य अनुस्यूत है	123
▲ प्रतिक्रियात्मक आन्दोलनों की शीघ्र मृत्यु	124
▲ पहले 'मनुष्य निर्माण' करो।	125
▲ उपासना एकान्त में होती है, समूह में नहीं	125
▲ मूर्ति-भंजकों में भी मूर्ति पूजा	126
▲ अनायास समाधि अवस्था पाने से हानि	127

प्रताडना

▲ ओ! अँगरेजों का अन्धानुकरण करने वालों!	129
▲ आओ, मनुष्य बनो	130
▲ ओ, भारत के उच्च वर्गों!	130
▲ चैतन्य के 'दिव्य-प्रेम' का यह विकृत रूप	132
▲ हे ईसाई पादरियो !	133
▲ ईश्वर और एषणाओं की पूजा साथ-साथ सम्भव नहीं	134
▲ मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है	136

भाग - 4

मनुष्य निर्माण अथवा कार्यकर्ताओं का गठन

▲ संगठन	141
▲ नेतृत्व	145
▲ सच्चा मार्गदर्शक	148
▲ सफल जीवन का रहस्य अथवा कर्म-कौशल	150

हे हिन्दू राष्ट्र ! उत्तिष्ठत !! जाग्रत !!



भाग - 1

सन्देश

ध्यान दो

- तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को सुनते ही तुम्हारी रगों में शक्ति की विद्युत-तरंग दौड़ जाय।
- तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को धारण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति-चाहे वह जिस देश का हो, चाहे वह तुम्हारी भाषा बोलता हो अथवा कोई अन्य, प्रथम मिलन में ही तुम्हारा सगे-से-सगा तथा प्रिय-से-प्रिय बन जाय!
- तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति का दुःख-दर्द तुम्हारे हृदय को इस प्रकार व्याकुल कर दे, मानो तुम्हारा अपना पुत्र संकट में हो।
- तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो सकोगे, जब तुम उनके लिए सब कुछ सहने को तत्पर रहोगे। उन महान गुरु गोविन्द सिंह के समान, जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया, रणक्षेत्र में अपने लाड़ले बेटों को बलिदान होते देखा, पर जिनके लिए उन्होंने अपना तथा अपने सगे-सम्बन्धियों का रक्त चढ़ाया, उनके ही द्वारा परित्यक्त होकर वह घायल सिंह कार्यक्षेत्र से चुपचाप हट गया और दक्षिण में जाकर चिरनिद्रा में खो गया। किन्तु, जिन्होंने कृतघ्नतापूर्वक उनका साथ छोड़ दिया था, उनके लिए अभिशाप का एक शब्द भी उस वीर के मुँह से न फूटा। यह है आदर्श उस महान गुरु का।

स्मरण रहे

- यदि तुम अपने देश का कल्याण करना चाहते हो तो तुम में से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह बनना होगा। भले ही तुम्हें अपने देशवासियों में सहस्रों दोष दिखाई दें, पर ध्यान रखना कि उनमें हिन्दू-रक्त है। वे तुम्हें हानि पहुँचाने के लिए सब कुछ करते हों, तब भी वे प्रथम देवता हैं जिनका तुम्हें पूजन करना है। यदि उनमें से प्रत्येक तुम्हें गाली दे, तब भी तुम्हें उनके लिए स्नेह की भाषा बोलनी है और यदि वे तुम्हें धक्के देकर बाहर कर दें, तब भी तुम कहीं दूर जाकर उस शक्तिशाली सिंह (गोविन्द सिंह) के समान मृत्यु की गोद में चुपचाप सो जाना। ऐसा ही व्यक्ति हिन्दू कहलाने का वास्तविक अधिकारी है, यही आदर्श सदैव हमारे सामने रहना चाहिए।
- आओ, हम अपने समस्त विवादों एवं आपसी कलह को समाप्त कर स्नेह की इस भव्य धारा को सर्वत्र प्रवाहित कर दें।

हमारी पुण्यभूमि और उसका गौरवमय अतीत

यदि इस पृथ्वीतल पर कोई ऐसा देश है, जो मंगलमयी पुण्यभूमि कहलाने का अधिकारी; ऐसा देश, जहाँ संसार के समस्त जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना ही है; ऐसा देश जहाँ ईश्वरोन्मुख प्रत्येक आत्मा का अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए पहुँचना अनिवार्य; ऐसा देश जहाँ मानवता ने ऋजुता, उदारता, शुचिता एवं शान्ति का चरम शिखर स्पर्श किया हो तथा इस सबसे आगे बढ़कर जो देश अन्तर्दृष्टि एवं आध्यात्मिकता का घर हो, तो वह देश भारत ही है।

अतीत गाथा

भारत का प्राचीन इतिहास अलौकिक उद्यम एवं उसके बहुविध प्रदर्शन, असीम उत्साह, विभिन्न शक्तियों की अप्रतिहत क्रिया और प्रतिक्रिया के समन्वय तथा इन सबसे परे एक देवतुल्य जाति के गम्भीर चिन्तन की अपूर्व गाथा है। यदि 'इतिहास' शब्द का अर्थ केवल राजे रजवाड़ों की कथाओं से ही लिया जाय, यदि केवल समाज जीवन ने उस चित्रण को ही इतिहास माना जाय जिसमें समय-समय पर होने वाले शासकों की कलुषित वासनाओं, उदण्डता और लोभवृत्ति का नग्न ताण्डव देख पड़ता हो अथवा उन शासकों के अच्छे-बुरे कृत्यों तथा तत्कालीन समाज पर परिणाम के विवेचन को ही 'इतिहास' की संज्ञा दी जाय, तो शायद भारत में ऐसा कोई इतिहास ग्रन्थ नहीं मिलेगा, किन्तु भारत के विशाल धार्मिक साहित्य, काव्य सिन्धु, दर्शन ग्रन्थों एवं जीवन चरित्रों की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है, प्रगति के उस महाअभियान के प्रत्येक चरण का, जब सभ्यता के विहान से बहुत पूर्व एक विशाल मानव समूह ने भूख-प्यास से परिचालित, लोभ-मोह से प्रेरित, सौन्दर्यतृष्णा से आकर्षित होकर अनेक भावों से गुजरकर अपनी महान् और अपराजेय बुद्धिबल के सहारे अनेक मार्गों और उपायों का आविष्कार कर पूर्णता की परमावस्था को प्राप्त कर लिया था। यद्यपि विपरीत परिस्थितियों के भीषण झंझावातों ने प्रकृति के विरुद्ध उनके युग-युगों तक संघर्ष के परिणामस्वरूप एकत्र हुई असंख्य जय-पताकाओं को जीर्ण-शीर्ण कर डाला और काल के थपेड़ों ने उन्हें जर्जर कर डाला, तथापि आज भी भारत के अतीत की गौरव-गाथाएँ गाई जा रही हैं।

आर्य जाति

आज यह जानने का हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है कि यह जाति मध्य एशिया, उत्तरी यूरोप तथा उत्तरी ध्रुव प्रदेश से धीरे-धीरे आगे बढ़ी और क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्त में इसने भारतवर्ष में बस कर उसे पवित्र बनाया अथवा भारत की यह पुण्यभूमि ही उसका मूल स्थान रही है।

आज हमारे पास कोई भी ठोस आधार यह सब प्रमाणित करने के लिए नहीं है कि भारत के अन्दर अथवा बाहर बसी हुई इस विशाल जाति ने ही, प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने मूलस्थान से निष्क्रमण कर, कालान्तर में यूरोप एवं अन्य स्थानों पर अपने उपनिवेश बसाये अथवा इन लोगों का वर्ण श्वेत था या कृष्ण, उनकी आंखें नीली थीं या काली, उनके केश सुनहरे थे या काले। केवल संस्कृत भाषा की कतिपय यूरोपीय भाषाओं से घनिष्ठता का अकेला तथ्य आज हमारे पास है।

इसी प्रकार, इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना भी सरल नहीं है कि हम सभी वर्तमान भारतीय उस जाति के शुद्ध वंशज हैं अथवा हमारी रगों में उनका कितना रक्त बह रहा है अथवा हममें कितनी ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें उस रक्त का लेशमात्र भी है। कुछ भी हो, इन प्रश्नों का अन्तिम हल नहीं निकलता है तो हमारी कोई विशेष हानि नहीं है।

परन्तु, एक बात ध्यान में रखनी होगी कि जिस प्राचीन भारतीय जाति में सभ्यता की किरणें सर्वप्रथम उदित हुईं, जिसमें गहन चिन्तनशीलता ने स्वयं को अपनी पूर्ण आभा के साथ सर्वप्रथम प्रचारित किया, उस जाति के हजारों-लाखों पुत्र, उसी मेधा के अंशभूत-आज भी उन समस्त भावों एवं चिन्तन के उत्तराधिकारी के रूप में विद्यमान हैं।

नदी, पर्वत एवं समुद्रों को लाँघकर, देशकाल की बाधाओं को मानो नगण्य कर भारतीय चिन्तन का रक्त भूमण्डल पर रहने वाली अन्य जातियों की नसों में अनेक जाने-अनजाने स्पष्ट, अनिर्वचनीय मार्गों से, अब तक प्रवाहित हुआ है और आज भी हो रहा है। सम्भवतः विश्व की पुरातन ज्ञानराशि का बहुतांश हमारी देन है।

विश्लेषणात्मक मेधा

‘नासतः सूत जायते !, निरस्तित्व में से अस्तित्व का जन्म नहीं हो सकता है।...

जिसका अस्तित्व है, उसका आधार निरस्तित्व नहीं हो सकता। शून्य में से ‘कुछ’ सम्भव नहीं। यह ‘कार्य-कारण-सिद्धान्त’ सर्वशक्तिमान है और देशकालातीत है। इस सिद्धान्त का ज्ञान उतना ही पुराना है जितनी आर्य जाति। सर्वप्रथम आर्य जाति के पुरातन

ऋषि-कवियों ने इसका गान किया, उसके दार्शनिकों ने इसका प्रतिपादन किया और उस आधारशिला का रूप दिया जिसके ऊपर आज भी सम्पूर्ण हिन्दू-जीवन का प्रासाद खड़ा होता है।

एक अपूर्व जिज्ञासा लेकर इस जाति ने अपनी यात्रा आरम्भ की, किन्तु शीघ्र ही वह एक निर्भीक विश्लेषण में परिणत हो गई। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक कृतियों को देखकर लगता है मानो वे किसी भावी श्रेष्ठ कलाकार ने काँपते हाथों बनायी हों, तथापि शीघ्र ही उसने आश्चर्यजनक परिणाम दिखाये, उसकी कृतियों में अपूर्व सुघड़ता आ गई और उसने एक अति वैज्ञानिक शास्त्र को जन्म दिया।

इस साहसी जाति ने अपनी यज्ञवेदियों की प्रत्येक ईंट को छान डाला; अपने शास्त्रों के प्रत्येक स्वर-अक्षर को छाना-बीना, परखा और जोड़ा; अपने सम्पूर्ण कर्मकाण्ड को शंका, अस्वीकृति एवं समाधान की मंजिलों से पार कर कई बार व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

इस जाति ने कभी अपने देवताओं को उलट-पुलट कर परखा तो कभी अपने उस प्रजापति को, जिसे वे अब तक सृष्टि का सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, जन्मदाता मानते आये थे, केवल गौण स्थान दिया, तो कभी उसे बिल्कुल अनुपयोगी कहकर किनारे फेंक दिया और उसके बिना ही एक विश्व धर्म (बौद्ध धर्म) का श्रीगणेश किया, जिसके आज भी संसार में किसी अन्य धर्म से अधिक अनुयायी हैं।

इस जाति ने विविध प्रकार की वेदियों की रचना में ईंटों की व्यवस्था से रेखागणित शास्त्र का विकास किया और अपनी उपासना तथा यज्ञों को निश्चित समय पर करने के प्रयास में ज्योतिष शास्त्र को जन्म देकर संसार को चकित कर दिया।

इस जाति ने गणित शास्त्र को संसार की किसी भी अर्वाचीन अथवा प्राचीन जाति से कहीं अधिक योगदान किया। रसायन शास्त्र, वैद्यक शास्त्र एवं संगीत शास्त्र के अपने ज्ञान तथा वाद्य यन्त्रों के आविष्कार के द्वारा आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के निर्माण में भारी सहायता पहुँचायी।

इस जाति ने ही आकर्षक कथाओं के माध्यम से शिशु-मस्तिष्क को संस्कारित करने के शास्त्र का आविष्कार किया। आज भी प्रत्येक सभ्य देश के शिशु विद्यालयों में प्रत्येक शिशु को उसी पद्धति से पढ़ाया जाता है और वह जीवनपर्यन्त इन संस्कारों को लेकर चलता है।

इस विश्लेषणात्मक जिज्ञासा के आगे और पीछे, उसके चारों ओर एक मखमली आवरण के रूप में विद्यमान, उस जाति की एक अन्य महान् बौद्धिक विशेषता है - और वह है उसकी कवित्वमय अन्तर्दृष्टि। उसका धर्म, उसका दर्शन, उसका इतिहास, उसका नीतिशास्त्र, उसका राज्य शास्त्र, सब काव्यमयी कल्पना के पुष्प कुंज में सजा दिये गए हैं- और यह सब चमत्कार है उस संस्कारित भाषा का, जिसे हम 'संस्कृत' कहते हैं, जिसके अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में उन्हें इससे अधिक अच्छी प्रकार व्यक्त करना न सम्भव था, न है। यहाँ तक कि गणित शास्त्र के कठोर तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए भी उस भाषा ने हमें संगीतमय अंक प्रदान किये।

यह विश्लेषणात्मक शक्ति तथा साहसी कवित्व दृष्टि ही हिन्दू जाति की मनोरचना में वे दो महातत्त्व हैं जिन्होंने उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। वे दोनों मिलकर हमारे राष्ट्रीय चरित्र के केन्द्र-बिन्दु बन गए। इनके समन्वय ने ही जाति को सदैव इन्द्रियों के परे बढ़ने की शक्ति दी। यही हमारी उन लचीली कल्पनाओं का मूल रहस्य है जो किसी शिल्पी द्वारा निर्मित उन लौहपत्रों के समान है, जो यद्यपि एक कठोर लौह स्तम्भ में से काटकर निकाले गए हैं तथापि इतने लचीले हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक वृत्ताकार किया जा सकता है।

उन्होंने कविता की; सोने और चाँदी में, रत्नों की जड़ावट में, संगमरमर के अद्भुत फर्शों में, अनेक स्वरों के संगीत में तथा आश्चर्यजनक वस्त्रों में, जो वस्तु-जगत् की अपेक्षा स्वप्न जगत् के प्रतीत होते हैं। उन सभी के पीछे इस राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का सहस्रों वर्ष लम्बा इतिहास विद्यमान है।

सम्पूर्ण कलाओं और शास्त्रों, यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन की कठोर वास्तविकताओं को भी इन कवित्वमयी धारणाओं के आवरण से ढँक दिया गया है। ये धारणाएँ तब तक आगे बढ़ायी गई हैं, जब तक इन्द्रियगम्य का संयोग अतीन्द्रिय से नहीं हो जाता और दृश्य में अदृश्य की सुगन्ध नहीं आ जाती।

इस जाति की प्राचीनतम झाँकियों में भी हम उसे इस वैशिष्ट्य से सम्पन्न और उसके प्रयोग में कुशल पाते हैं। निश्चित ही, वेदों में इस जाति का जो चित्र हमें मिलता है उसके निर्माण के पूर्व उसने धर्म समाज के अनेक रूपों एवं अवस्थाओं को पार कर पीछे छोड़ दिया होगा।

वेदों में एक सुगठित देवशास्त्र, विस्तृत कर्मकाण्ड, विविध व्यवसायों की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु जन्मगत-वर्गों पर आधारित समाज-रचना एवं जीवन की अनेक आवश्यकताओं तथा अनेक विलासिताओं का वर्णन उपलब्ध है।

आध्यात्मिकता का आदिस्त्रोत

यही वह पुरातन भूमि है जहाँ ज्ञान ने अन्य देशों में जाने के पूर्व अपनी आवास भूमि बनाई थी - यही वह भारतवर्ष है, जिसके आध्यात्मिक प्रवाह के भौतिक प्रतीक ये समुद्राकार नद हैं और चिरन्तन हिमालय एक तह पर दूसरी तह चढ़ाकर अपने हिममण्डित शिखरों द्वारा मानो स्वर्ग के रहस्यों में ही झाँक रहा है। यह वही भारतवर्ष है जिसकी धरा को महानतम ऋषियों की चरण-रज पवित्र कर चुकी है।

सर्वप्रथम मानव, प्रकृति एवं अन्तर्जगत् के रहस्यों की जिज्ञासाओं के अंकुर यहीं उगे थे। आत्मा की अमरता, एक परमपिता परमेश्वर की सत्ता, प्रकृति और मनुष्य के भीतर ओत-प्रोत एक परमात्मा के सिद्धान्त भी सर्वप्रथम यहीं उठे और यहीं धर्म तथा दर्शन के उच्चतम सिद्धान्तों ने अपने चरमशिखर स्पर्श किये। इसी भूमि से आध्यात्म एवं दर्शन की लहर पर लहर बार-बार उमड़ी और समस्त संसार पर छा गई।

देवत्व प्राप्ति के लिए संघर्ष

क्या अद्भुत देश है यह ! इस पुण्यभूमि पर चाहे जो खड़ा हो - वह इसी भूमि का पुत्र हो अथवा विदेशी-यदि उसकी आत्मा दुर्दान्तपशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है तो- वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिए कार्य करते रहे हैं और जिनका प्रारम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यहाँ का वायुमण्डल ही आध्यात्मिकता की तरंगों से ओत-प्रोत है।

यह देश दर्शन, आध्यात्मिकता, नीतिशास्त्र एवं उन सबका पुण्यधाम है, जो मनुष्य को पशुत्व के विरुद्ध उसके सतत संघर्ष में विश्रामस्थल प्रदान करते हैं। यह देश ही वह साधना-भूमि है जिसके द्वारा मनुष्य अपने 'कर्ता' के आवरण को फेंककर अजर-अमर, आदि-अन्त-रहित आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। यही वह देश है जहाँ सुखों का प्याला भरा रहा और उससे भी अधिक भरा रहा दुःखों का प्याला-किन्तु तभी तक, जब तक मानव को यह पता न चला कि यह सब मिथ्या है, माया है। यहीं सबसे पहले यौवन के पूर्ण विकास में, पर भोग-विलासों की गोद में, शक्ति और यश के चरम शिखर पर आसीन मनुष्य ने माया की जंजीरों को तोड़ डाला।

यहीं मानवता के समुद्र में आनन्द और पीड़ा, सामर्थ्य और दौर्बल्य, वैभव और दारिद्र्य, सुख और दुःख, हास्य और रुदन, जीवन और मृत्यु की शक्तिशाली लहरों के घात-प्रतिघात के आलोड़न के बीच दिव्य शान्ति और शाश्वत निस्तब्धता की तीव्र आकांक्षा में से वैराग्य का सिंहासन प्रगट हुआ।

यहाँ इसी देश में सर्वप्रथम 'जन्म-मरण की कठिन समस्या है, जीवन की तृष्णा और उसे बनाये रखने के लिए वृथा घोर संघर्ष, जिनका परिणाम केवल दुःखों के संचय में हुआ' इन सब समस्याओं का सामना किया गया और उन्हें हल किया गया। उनको इस तरह हल कर दिया गया मानो वे कभी पहले थीं ही नहीं और आगे कभी रहेंगी भी नहीं। यहाँ और केवल यहाँ ही यह खोज हुई कि जीवन स्वयं भी एक अभिशाप है और किसी ऐसी सत्ता की परिच्छाया मात्र है, जो एकमेव सत्य है।

यही वह देश है जहाँ धर्म को व्यावहारिक एवं सच्चा रूप प्राप्त हुआ और केवल यहीं स्त्री तथा पुरुष, धर्म के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात्कार करने के लिए साहसपूर्वक कूद पड़े। बिल्कुल उसी प्रकार, जिस प्रकार अन्य देशों में लोग जीवन के सुखों को लूटने के लिए पागल होकर कूद पड़ते हैं और अपने कमजोर बन्धुओं को लूट लेते हैं।

यहीं और केवल यहीं मानव अन्तःकरण का विस्तार इतना अधिक हुआ कि उसमें न केवल सम्पूर्ण मानव जाति समा गई अपितु पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी स्थान मिल गया। उच्चतम देवताओं से लेकर रेत के कणों तक, महानतम से निम्नतम तक सब कोई उस विशाल अनन्त मानव अन्तःकरण में स्थान पा गए और केवल यहीं मानव-आत्मा ने सकल ब्रह्माण्ड को एक अविच्छिन्न, अखण्ड इकाई के रूप में देखा और उसकी प्रत्येक धड़कन को अपनी धड़कन जाना।

सौम्य हिन्दू

सम्पूर्ण विश्व पर हमारी मातृभूमि का महान् ऋण है। एक-एक देश को लें तो भी इस पृथ्वी पर दूसरी कोई जाति नहीं है, जिसका विश्व पर इतना ऋण है जितना कि इस सहिष्णु एवं सौम्य हिन्दू का! 'निरीह हिन्दू' - कभी-कभी ये शब्द तिरस्कार स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यदि कभी किसी तिरस्कारयुक्त शब्द प्रयोग में भी कुछ सत्यांश रहना सम्भव हो तो वह इसी शब्द प्रयोग में है। यह 'निरीह हिन्दू' सदैव ही जगत्पिता की प्रिय सन्तान रहा है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन कालों में शक्तिशाली एवं महान् जातियों से महान् विचारों का प्रादुर्भाव हुआ है। समय-समय पर आश्चर्यजनक विचार एक जाति से दूसरी के पास पहुँचे हैं। राष्ट्रीय जीवन के उमड़ते हुए ज्वारों ने अतीत में और वर्तमान काल में महासत्य एवं शक्ति के बीजों को दूर-दूर तक बिखेरा है। किन्तु मित्रों! मेरे शब्दों पर ध्यान दो। सदैव यह विचार-संक्रमण रणभेरी के घोष के साथ युद्धरत सेनाओं के माध्यम से ही हुआ है। प्रत्येक विचार को पहले रक्त की बाढ़ में डूबना पड़ा। प्रत्येक विचार को लाखों मानवों की

रक्तधारा में तैरना पड़ा। शक्ति के प्रत्येक शब्द के पीछे असंख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों की चीत्कार एवं विधवाओं का अजस्र अश्रुपात सदैव विद्यमान रहा। मुख्यतः इसी मार्ग से अन्य जातियों के विचार संसार में पहुँचे।

जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अन्धकार के गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक यूरोपवासियों के पुरखे जंगलों में रहते थे और अपने शरीरों को नीले रंग से रंगा करते थे, उस समय भी भारत में कर्मचेतना का साम्राज्य था। उससे भी पूर्व, जिसका इतिहास के पास कोई लेखा नहीं, जिस सुदूर अतीत के गहन अन्धकार में झाँकने का साहस परम्परागत किंवदन्ती भी नहीं कर पाती, उस सुदूर अतीत के अब तक, भारतवर्ष से न जाने कितनी विचार तरंगें निकली हैं, किन्तु उनका प्रत्येक शब्द अपने आगे शान्ति और पीछे आशीर्वाद लेकर गया है। संसार की सभी जातियों में केवल हम ही हैं जिन्होंने कभी दूसरों पर सैनिक-विजय प्राप्ति का पथ नहीं अपनाया और इसी कारण हम आशीर्वाद के पात्र हैं।

अमर भारत

एक समय था, जब ग्रीक-सेनाओं के सैनिक संचलन के पदाघात से धरती काँपा करती थी। किन्तु, पृथ्वीतल पर से उसका अस्तित्व मिट गया। अब सुनाने के लिए उसकी एक गाथा भी शेष नहीं है। ग्रीकों का वह गौरव-सूर्य सदा-सर्वदा के लिए अस्त हो गया। एक समय था जब संसार की प्रत्येक उपभोग्य वस्तु पर रोम का श्येनांकित ध्वज उड़ा करता था। सर्वत्र रोम की प्रभुता का दबदबा था और वह मानवता के सर पर सवार थी। रोम का नाम लेते ही पृथ्वी काँप जाती थी, परन्तु आज उसी रोम का कैपिटोलिन पर्वत-खण्डहरों का ढेर बना हुआ है, जहाँ पहले सीजर राज्य करते थे वहीं आज मकड़ियाँ जाला बुनती हैं।

इनके अतिरिक्त कई अन्य गौरवशाली जातियाँ आर्यीं और चली गयीं; कुछ समय उन्होंने बड़ी चमक-दमक के साथ गर्व से छाती फुलाकर अपना प्रभुत्व फैलाया, अपने कलुषित जातीय जीवन से दूसरों को आक्रान्त किया; पर शीघ्र ही पानी के बुलबुलों के समान मिट गईं। मानव-जीवन पर ये जातियाँ केवल इतनी ही छाप डाल सकीं।

किन्तु हम आज भी जीवित हैं और यदि आज भी हमारे पुराण-ऋषि मनु वापस लौट आर्ये तो उन्हें आश्चर्य न होगा उन्हें ऐसा नहीं लगेगा कि वे किसी नये देश में गये। वे देखेंगे कि सहस्रों-सहस्रों वर्षों के अनुभव एवं चिन्तन से निष्पन्न वही प्राचीन विधान आज भी यहाँ विद्यमान हैं; अनन्त शताब्दियों के अनुभव एवं युगों की अभिज्ञता का परिपाक-

वह सनातन आचार-विचार आज भी वर्तमान है, और इतना ही नहीं, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, एक के बाद दूसरे दुर्भाग्य के थपेड़े उन पर आघात करते जाते हैं। परन्तु उन पर सब आघातों का एक ही परिणाम हुआ है कि वह आचार दृढ़तर और स्थायी ही होते जाते हैं। किन्तु, इन सब विधानों एवं आचारों का केन्द्र कहाँ हैं? किस हृदय में रक्त संचालित होकर उन्हें पुष्ट बना रहा है? हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूल स्रोत कहाँ है? इन प्रश्नों के उत्तर में सम्पूर्ण संसार के पर्यटन एवं अनुभव के पश्चात् मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि उसका केन्द्र हमारा धर्म है।

यही वह भारतवर्ष है जो अनेक शताब्दियों तक शत-शत विदेशी आक्रमणों के आघातों को झेल चुका है। यही वह देश है जो संसार की किसी भी चट्टान से अधिक दृढ़ता से अपने अक्षय पौरुष एवं अमर जीवनी-शक्ति के साथ खड़ा हुआ है। इसकी जीवन-शक्ति भी आत्मा के समान ही अनादि-अनन्त एवं अमर है और हमें ऐसे देश की सन्तान होने का गौरव प्राप्त है।



अतीत से वर्तमान की ओर

भारत के सामाजिक नियम सदैव युगानुसार परिवर्तनशील रहे हैं। उनका प्रारम्भिक उद्भव एक विशाल योजना के प्रतीकस्वरूप हुआ था और इस योजना को शनैः-शनैः समय के साथ उद्घटित होना था। प्राचीन भारत के महर्षियों की दृष्टि भावी के गर्त में इतनी दूर तक प्रवेश कर चुकी थी कि विश्व को उनके ज्ञान का उचित मूल्यांकन करने के लिए अभी शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी होगी। उनके वंशजों में उस आश्चर्यजनक योजना की पूर्ण सीमाओं को समझने की योग्यता का अभाव ही भारत के पतन का एकमेव कारण है। भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ कि अतीत के नियम एवं आचार खराब थे, बल्कि इसलिए हुआ क्योंकि उन नियमों एवं आचारों को उनकी स्वभावसिद्ध दिशाओं में अग्रसर नहीं होने दिया गया।

वर्तमान भारत का चित्र

विशाल और गहरी, उमड़ती हुई और अधीर नदियाँ; उन नदी-तटों पर स्वर्गिक नन्दनवन को लजाने वाले मनोरम उद्यान; उन उद्यानों के मध्य अपूर्व कारीगरी से युक्त कला-सज्जित संगमरमर के गगनचुम्बी प्रासाद; और उनके आगे-पीछे, अगल-बगल झोपड़ियों के झुण्ड, उनकी मिट्टी की बढ़ती हुई दीवारें, उनकी जर्जर छतें, उनके बाँसों का ढाँचा नंगा हो चुका है; इधर-उधर घूमते हुए बच्चों और बूढ़ों की फटे-पुराने चिथड़ों से ढँकी कंकालवत् आकृतियाँ, जिनके चेहरों पर सैकड़ों वर्षों की गरीबी और निराशा की गहरी रेखाएँ अंकित हैं; हर जगह गाय, बैल और भैसों के दर्शन और ओह! उनकी आँखों में भी वही उदासी की छाया और उनके भी वैसे ही कृश शरीर; रास्ते में जगह-जगह कूड़े और मैले के ढेर-यही है हमारा आज का भारत।

अट्टालिकाओं से सटी हुई जीर्ण-शीर्ण झोपड़ियाँ मन्दिरों के द्वारों पर कूड़े के ढेर, रेशमी वस्त्रधारी के बगल में चलता हुआ कौपनधारी संन्यासी, प्रचुर अन्न से तृप्त व्यक्तियों की ओर दृष्टि गड़ाये क्षुधाक्लान्त व्यक्ति की आभाहीन कातर दृष्टि - यही है हमारी जन्मभूमि।

विदेशी की दृष्टि में वर्तमान भारत

महामारी और हैजे का भीषण विनाश-नर्तन, जाति के मर्मस्थलों को चूसता हुआ मलेरिया, भुखमरी और आधा पेट भोजन मानो दूसरा स्वभाव, बीच-बीच में यमरूपी अकाल का ताण्डव-नृत्य, रोग-शोक का कुरुक्षेत्र, काल-कवलित आशा-उद्यम-आनन्द एवं साहस की मृत हड्डियों से छाया हुआ एक विशाल महाश्मशान और इन सबके बीच अपूर्व शान्ति में निमग्न महाशक्ति के साक्षात्कार में तीन योगी, जिनके जीवन में मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा लक्ष्य नहीं, यही चित्र है जो भारत में यूरोपीय पर्यटक की आँखों को दीख पड़ता है।

तीस कोटि आत्माओं का यह जमघट, जो केवल बाहरी आकृति में मनुष्य रह गये हैं, जो स्वदेशी-विदेशी जातियों, स्वधर्मी-विधर्मी लोगों के दमन-चक्र में पिसकर लगभग चेतनाशून्य हो गए हैं, जो दासों के समान स्वयं प्रेरणा से रहित कष्ट और श्रम के प्रति जड़वत् बन गए हैं, जिनके जीवन कोई आशा शेष नहीं, जिनका न कोई अतीत है न कोई भविष्य, जो केवल अपने वर्तमान 'जीवन' को चाहे जितने कष्टों के बीच बनाये रखने के इच्छुक हैं; स्वबन्धुओं की उन्नति असहिष्णु दासों के तुल्य ईर्ष्या से भरे समस्त आशायें मर जाने के कारण श्रद्धाहीन, आस्थाहीन, शृंगालवत् चालाकी, विश्वासघात और धूर्तता ही जिनके स्वार्थरक्षण का एकमेव शस्त्र बन गया है, स्वार्थपरता के मूर्तिमन्त प्रतीक, शक्तिमानों के चरणों की धूलि चाटने वाले, किन्तु अपने से दुर्बलों के लिए यमस्वरूप, दुर्बल एवं भविष्य के प्रति निराश होने के कारण अनेक वीभत्स एवं क्षुद्र अन्धविश्वासों के आश्रयस्थल बने हुए; नैतिकता के किसी स्थिर मापदण्ड से रहित-ऐसे हैं ये तीस कोटि आत्माएं जो भारत माता के वक्षस्थल पर रेंग रही हैं-एक सड़ी-गली दुर्गन्धयुक्त लाश पर बिलबिलाते अगणित कीड़ों के समान-यही है हमारा चित्र जो आज एक अंग्रेज अधिकारी के सामने बरबस आकर खड़ा हो जाता है।

भारतीय दृष्टि में पश्चिम

नवार्जित शक्तियों की सुरा के मद में चूर, पाप-पुण्य के बोध से रहित, हिंसक पशुओं के समान विकराल, नारी का गुलाम, कामुक, सुरा में डूबा, शुद्धता-रहित, आचारहीन, केवल जड़ जगत में आस्था से युक्त, जड़त्व और उसके विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित सभ्यता से सम्पन्न, अन्यो के देश एवं सम्पत्ति का बल, चालाकी एवं विश्वासघातपूर्वक शोषण कर अपनी 'अर्हता' को प्रदर्शित करने के लिए लालायित, मरणोत्तर जीवन आस्था रहित, शरीर से परे जिसके लिए कुछ नहीं, विषयोपभोग एवं शरीर सुख में ही जिसका सम्पूर्ण जीवन है- यह है पश्चिमवासी, जो एक भारतीय की दृष्टि में राक्षस मात्र है।

केवल बाह्य दृष्टि पर आधारित चित्र

ये हैं दोनो पक्षों के द्वारा प्रस्तुत एक दूसरे के चित्र, जो विवेक-बुद्धि से रहित उथली जानकारी अथवा अज्ञान पर आधारित हैं। जो विदेशी या यूरोपीय भारत आते हैं वे हमारे नगरों के बिल्कुल स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकारक क्षेत्रों में शाही भवनों में रहते हैं और हमारे देहाती मुहल्लों की तुलना अपने देश के स्वच्छ एवं सुन्दर नगरों से करते हैं। जिन भारतीयों के साथ उनका सम्बन्ध आता है वे एक वर्ग विशेष के होते हैं, जो उनकी अधीनता में कोई-न-कोई नौकरी करते हैं और सचमुच कहीं अन्यत्र इतना दुःख, दारिद्र्य नहीं है जितना भारत में है। इसमें कोई झूठ भी नहीं है कि कूड़ा-करकट हर जगह पड़ा ही रहता है। यह यूरोपीय मस्तिष्क की समझ के बाहर है कि इस गन्दगी, गुलामी और इतने पतन के बीच भी किसी श्रेष्ठ वस्तु का अस्तित्व सम्भव है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोपवासी भक्ष्याभक्ष्य का विवेक किये बिना जो मिल जाता है, खा लेते हैं, उनमें हमारे समान शुद्धता का विचार नहीं है, वे जातिभेद को नहीं मानते, स्त्रियों से निर्लज्जतापूर्वक मिलते हैं और शराब पीकर औरतों को बगल में लेकर नाचते हैं। तब हम आश्चर्य में पड़कर स्वयं से पूछते हैं, हे भगवान क्या ऐसी जाति में कोई अच्छाई होना सम्भव है ?

ये दोनों ही मत बाह्य दृष्टि पर आधारित हैं। उन्होंने सतह के अन्दर झाँका ही नहीं है। हम विदेशियों को अपने समाज में घुलने-मिलने नहीं देते, उन्हें 'म्लेच्छ' कहते हैं। वे भी हमें गुलाम मानकर हम से घृणा करते हैं और हमें 'काला आदमी' कहकर पुकारते हैं। इन दोनों मतों में कुछ सत्यांश अवश्य है, किन्तु दोनों ने ही एक-दूसरे के अन्तर्जगत की वास्तविकता के दर्शन नहीं किये।

प्रत्येक जीवित राष्ट्र : किसी भाव का आश्रयस्थल

प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक भाव विद्यमान रहता है, बाह्य मनुष्य उसकी केवल भाव अभिव्यक्ति मात्र है, उस आन्तरिक भाव की भाषामात्र है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी एक राष्ट्रीय भाव होता है। यह भाव विश्व के लिए कार्य करता है और उसकी धारणा के लिए आवश्यक है। जिस दिन विश्व की धारणा के लिए उस भाव की तत्त्वस्वरूप में आवश्यकता समाप्त हो जाती है, उसी दिन उस भाव के आश्रय, चाहे वह व्यक्ति हो या राष्ट्र, उसका विनाश हो जायेगा। हम भारतवासी इतनी आपत्तियों, दुःख-दारिद्र्य एवं अन्तर्बाह्य अत्याचारों को लेकर भी अब तक जीवित हैं, यही प्रमाण है कि हमारा कोई राष्ट्रीय भाव है, जो विश्व की धारणा के लिए आवश्यक है।

इसे अच्छी प्रकार समझ लो कि भारत अब भी जीवित है, क्योंकि विश्व-सभ्यता के भण्डार में उसका योगदान अभी पूर्ण नहीं हुआ है।

पहले हम यह भी समझ लें कि ऐसा कोई अच्छा गुण नहीं है जिसके ऊपर किसी एक जाति का एकाधिकार हो। निस्सन्देह व्यक्तियों के समान राष्ट्रों में भी किसी एक राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ गुणों का प्राधान्य हो सकता है।

धर्म और मोक्ष

हमारा मुख्य भाव मुक्ति की कामना है। पाश्चात्यों का मुख्य भाव धर्म है। हम मुक्ति चाहते हैं वे धर्म चाहते हैं। यहाँ धर्म शब्द का व्यवहार मीमांसकों के (पुरुषार्थवाचक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) अर्थ में हुआ है। धर्म क्या है? धर्म वही है जो इहलोक और परलोक में सुख-भोग की प्रवृत्ति दे। धर्म क्रियामूलक होता है, वह मनुष्य को सुख के पीछे दौड़ाता है, और कार्य करने की प्रेरणा देता है।

मुक्ति क्या है? मोक्ष वह है जो यह सिखाता है कि इहलोक और परलोक दोनों का सुख गुलामी है, क्योंकि इस प्रकृति के नियमों से परे न इहलोक है और न परलोक। इहलोक की दासता का परलोक की दासता से केवल इतना अन्तर है जितना लोहे की जंजीर का सोने की जंजीर से। दूसरी बात यह है कि सुख चाहे जिस लोक में हो प्रकृति के नियमों से बँधा होने के कारण नाशवान् है, वह अन्त तक स्थिर नहीं रहेगा। अतः, मनुष्य को मुक्त होने की आकांक्षा रखनी चाहिए, उसे शरीर के बन्धनों के परे जाना चाहिए। दासत्व में रहने से काम नहीं चलेगा। यह मोक्षमार्ग केवल भारतवर्ष में है, अन्यत्र नहीं।

भारतवर्ष में एक समय ऐसा भी था, जब यहाँ धर्म और मोक्ष का सामञ्जस्य था, उस समय यहाँ मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले व्यास, शुकदेव एवं जनक आदि के साथ-साथ युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म एवं कर्ण आदि धर्म के उपासक भी विद्यमान थे। बौद्ध मत के उदय के पश्चात् धर्म की पूर्ण उपेक्षा की गई और मोक्ष मार्ग ही प्रधान बन गया।

हिन्दू शास्त्र एवं बौद्ध मत

बौद्धों ने घोषणा की, “संसार में मोक्ष के समान और है ही क्या? अतः, तुम जो भी हो, सब इसे पाने का प्रयत्न करो।” मैं पूछता हूँ, “क्या यह कभी सम्भव है?” हिन्दू शास्त्रों का स्पष्ट निर्देश है, “तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे लिए ये सब बातें आवश्यक नहीं हैं। तुम अपने ‘स्वधर्म’ का पालन करो।” यही बात ठीक है। जो एक पग नहीं

कूद सकता, उससे एक ही छलांग में समुद्र पार कर लंका पहुँच जाने की आशा रखना कहाँ तक उचित है? क्या यह युक्तिसंगत है? तुम अपने परिवार का तो पेट भर नहीं सकते, दो स्व-बन्धुओं को भोजन देने की तुममें क्षमता नहीं, अन्य लोगों के साथ मिलकर तुम लोककल्याण का एक छोटा-सा कार्य भी नहीं कर पाते; तब भी तुम मुक्ति के पीछे दौड़ रहे हो! हिन्दू शास्त्रों का कथन है, “निस्सन्देह मुक्ति धर्म से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, किन्तु पहले धर्म का पूर्ण पालन कर लो।” बौद्धों ने इसी स्थल पर भ्रम में पड़कर अनेक उत्पात खड़े कर दिये।

अहिंसा ठीक है; ‘बुराई का प्रतिरोध मत करो’ यह भी बड़ी बात है। ये सब सचमुच ऊँचे सिद्धान्त हैं। किन्तु, शास्त्रों का आदेश है, “तुम गृहस्थ हो। यदि कोई तुम्हारे गाल पर एक थप्पड़ मारे और तुम उसका जवाब दस थप्पड़ों से न दो तो तुम पाप करते हो।” मनु की व्यवस्था है -

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन॥

(मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ३५०)

“यदि कोई तुम्हें मारने के लिए आता है तो उसकी हत्या करने में तनिक भी पाप नहीं है, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो,” यह एक महासत्य है और इसे कभी नहीं भूलना चाहिए।

स्वधर्म पालन ही परम सत्य

‘वीर भोग्या वसुन्धरा।’ अतः, शौर्य को प्रकट करो। अपने शत्रु को जीतने और संसार का सुख भोगने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की चतुर्विध राजनीति को परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार अपनाओ। तभी तुम धार्मिक होगे या बनोगे। यदि तुम उपकारों को चुपचाप सहकर किसी की भी ठोकरें खाकर और अत्याचारों को पीकर लज्जाजनक जीवन बिताओगे तो तुम्हारा इहलोक का जीवन तो नरकतुल्य होगा ही, परलोक में भी तुम्हें वही मिलेगा। शास्त्रों का भी यही मत है। अतः, स्वधर्म पालन करो, केवल यही सत्य है। यही चरम सत्य है। मेरे प्रिय स्वधर्मियो ! यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। निस्संदेह, अन्याय मत करो, पर-पीड़न मत करो, यथाशक्ति परोपकार भी करो। किन्तु, गृहस्थ के लिए दूसरों के अन्यायों को चुपचाप सह लेना घोर पाप है। ‘शठे शाठ्यं समाचरेत्’ ही उसका स्वधर्म है। गृहस्थ को परिश्रम एवं उत्साहपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए। उसके द्वारा अपने परिवार एवं अन्यो का सुखपूर्वक पोषण करना चाहिए,

यथाशक्ति लोक कल्याणार्थ शुभ कर्म भी करना चाहिए। यदि तुम यह सब नहीं कर सकते तो तुम मनुष्य कहलाने का दावा ही कैसे कर सकते हो? तब तुम्हारे लिए मोक्ष की बात करना तो दूर, तुम सच्चे गृहस्थ भी नहीं रह सकते।

भिन्न स्वभाव : भिन्न पथ

अब प्रश्न यह उठता है कि हम कब किस शुभ पथ का अनुगमन करें? मुक्ति की अभिलाषा करने वालों को 'शुभ' एक है तो 'धर्म' के आकांक्षियों का 'शुभ' दूसरा, यही परम सत्य कि जिसको गीता के उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ स्पष्ट करने का यत्न किया है। इसी सत्य पर हिन्दू धर्म का 'स्वधर्म पालन' का सिद्धान्त एवं वर्णाश्रम व्यवस्था अधिष्ठित है। कृष्ण ने कहा,

**“अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥”**

(गीता : अध्याय-१२, श्लोक-१३)

जिसका कोई शत्रु नहीं है, जो सबके प्रति मैत्री एवं करुणाभाव से परिपूर्ण है, 'मैं और मेरा' की भावना से मुक्त है वह दुःख और सुख दोनों में समभाव से मुक्त क्षमावान है।

यह और ऐसे ही अनेक वाक्य वस्तुतः मुमुक्षुओं के लिए कहे गए हैं। किन्तु अन्यत्र उन्होंने कहा,

**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोन्तिष्ठ परन्तप॥**

(गीता: अध्याय-२, श्लोक-३)

“हे पार्थ! क्लीवता को प्राप्त मत हो, यह तेरे लिए योग्य नहीं, हे शत्रुतापक! हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो।”

**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमैव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥**

(गीता-अध्याय-११, श्लोक-३३)

“अतः, उठ खड़ा हो और यश लाभ कर। अपने शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। हे सव्यसाची अर्जुन! ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तू निमित्त मात्र बन जा।”

सात्त्विक शान्ति एवं तामसिक निष्क्रियता में अन्तर

अब मुझे बताओ, बाहर से देखकर हम यह कैसे जानें कि जिस अवस्था में तुम हो उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है अथवा तमोगुण की? “क्या हम समस्त सुख-दुःख से परे, क्रियातीत सात्त्विक शान्ति की स्थिति में पहुँच गए हैं अथवा मृतक के समान निस्पन्द, प्राणहीन, जड़वत् तथा कर्मशक्ति के अभाव में निष्क्रियता की महातामसी स्थिति में भटक रहे हैं तथा धीरे-धीरे चुपचाप अन्दर-अन्दर सड़ते जा रहे हैं?” – मैं गम्भीरतापूर्वक तुमसे यह प्रश्न पूछता हूँ। मुझे इसका उत्तर चाहिए। जरा अपने मन से पूछो तो; तुम्हें सत्य का पता चल जायगा।

सात्त्विक शान्ति में महाशक्ति का भण्डार

किन्तु, इसका उत्तर पाने के लिए प्रतीक्षा ही क्यों करें? फल से वृक्ष की पहचान हो जाती है। सत्य की प्रधानता के समय मनुष्य निष्क्रिय एवं शान्त तो दिखता है, किन्तु यह निष्क्रियता महान् शक्तियों के पूँजीभूत होने का परिणाम होती है, यह शान्ति, प्रचण्ड पौरुष की जननी है। उस परम सात्त्विक पुरुष को, उस महात्मा को हमारे समान हाथ-पैरों से कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसकी तो इच्छा मात्र से ही सब काम अविलम्ब पूर्ण हो जाते हैं। वह सत्त्वगुणप्रधान पुरुष ही ब्राह्मण है, सबका पूज्य है। ‘मेरी पूजा करो’ ऐसा कहते हुए उसे द्वार-द्वार पर घूमना नहीं पड़ता। जगदम्बा स्वयं अपने हाथों उसके ललाट पर स्वर्णाक्षरों में लिख देती है, “इस महापुरुष की, मेरे पुत्र की सब कोई वन्दना करो।” संसार इसे पढ़ता है, सुनता है और श्रद्धा से अपना मस्तक उसके सामने नत कर देता है। ऐसा पुरुष ही वास्तव में

“अद्वैष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥”

(गीता: अध्याय-१२, श्लोक-१३)

“जिसका कोई शत्रु नहीं, जो सबके प्रति मैत्री एवं करुणा से परिपूर्ण है, ‘मैं और मेरा’ की भावना से जो मुक्त है, दुःख-सुख दोनों में समभाव से युक्त है तथा क्षमावान् है” ऐसा कहलाता है।

तामसिक अकर्मण्यता : मृत्यु का लक्षण

और ध्यान दो, ये लक्षण जो तुम्हें क्षुद्र हृदय एवं नपुंसक लोगों में दिख पड़ते हैं, जो नाक से मिमियाकर एक-एक शब्द को चबाते हुए बोलते हैं, जिनकी आवाज इतनी निर्जीव है मानो सात दिन के भूखे हों, जो फटे-पुराने चिथड़ों की भाँति हैं, जो दूसरों की ठोकरें खाकर भी विरोध नहीं करते अथवा कर्मशील नहीं होते, ये लक्षण निम्नतम तमोगुण के हैं। ये मृत्यु के लक्षण हैं, सत्त्व गुण के नहीं। यह भ्रष्टता है, दुर्गन्ध है।

अर्जुन भी इसी अवस्था को प्राप्त हो रहे थे, तभी भगवान् ने उन्हें इतने विस्तारपूर्वक गीता का उपदेश दिया। क्या यह सत्य नहीं है? सुनो, भगवान् के श्रीमुख से प्रथम शब्द क्या निकले -

“क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते”

“कायरता को प्राप्त मत हो। हे पार्थ! यह तेरे योग्य नहीं है।” फिर, उन्होंने कहा, “तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व” अर्थात् “तू उठ और यश का अर्जन कर।”

पिछले सहस्र वर्षों से सम्पूर्ण देश के वायुमण्डल में कृष्ण का नाम गूँज रहा है और सब ओर उनकी पूजा-प्रार्थना हो रही है, किन्तु भगवान् हमारी प्रार्थना की ओर मानो कान ही नहीं देता। और वह दे भी क्यों? जब मनुष्य भी मूर्खों की पुकार कभी नहीं सुनना चाहता, तब क्या भला भगवान् सुनेगा? अब एक ही मार्ग शेष है कि हम भगवान् के गीतोक्त वचनों को सुनें -

“क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ”

“हे पार्थ! कायरता को प्राप्त मत हो एवं

“तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व”

अतः, उठ और यश लाभ कर।”

विधि की विडम्बना

विधि की विडम्बना देखो। यूरोपवासियों के देवता ईसामसीह ने सिखाया-

“किसी से बैर मत करो, जो तुम्हें गाली दे उन्हें भी आशीर्वाद दो, यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर थपड़ मारे तो तुम उसकी ओर दाहिना गाल भी कर दो, सब कामकाजों को त्यागकर परलोक की तैयारी करो; ‘क्योंकि संसार का अन्त निकट है।’ इसके विपरीत हमारे भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, “सदैव महान् उत्साह से कर्म करो, अपने शत्रुओं का विनाश कर संसार का भोग करो।” किन्तु, अन्त में जो कृष्ण या ईसामसीह चाहते थे, उसका बिल्कुल उल्टा हो गया।

यूरोपवासियों ने कभी ईसामसीह के शब्दों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। सदैव कार्यशील स्वभाव अपनाकर अत्यन्त प्रचण्ड रजोगुण से सम्पन्न होकर वे बड़े उत्साह और युवकोचित उत्सुकता के साथ विश्व के विभिन्न देशों के सुख और विलासों को बटोर रहे हैं और मन भरकर उन्हें भोग रहे हैं।

और हम! हम एक कोने में बैठे, अपने सब साजो-सामान के साथ, दिन-रात मृत्यु का ही आह्वान कर रहे हैं और गा रहे हैं -

नलिनीदलगतजलमतितरलं

तद्रज्जीवनमतिशयचपलम्।

अर्थात्, कमलपत्र पर पड़ी हुई जल की बूँदें जितनी चंचल और अस्थिर हैं, उतना ही यह मानव जीवन क्षीण और चलायमान है। “इन सबका परिणाम हुआ है कि मृत्युराज यम के भय से हमारी धमनियों का रक्त ठण्डा पड़ जाता है तथा सम्पूर्ण शरीर काँपने लगता है। और ओफ ! यम ने भी हमारे शब्दों को सच मान लिया है और शायद इसीलिए महामारी आदि संसार भर के रोग हमारे देश में भेज दिये हैं।

अब कहो! गीता के उपदेश को किसने सुना? यूरोपियनों ने। और ईसा के इच्छानुसार कौन आचरण कर रहे हैं? भगवान् कृष्ण के वंशज! इसे अच्छी प्रकार समझ लो।

बौद्धमत और वैदिक धर्म का उद्देश्य एक ही है, किन्तु बौद्धों द्वारा अपनाये गए साधन सही नहीं हैं। यदि बौद्ध साधन ठीक होते तो हमारा इतनी बुरी तरह सर्वनाश ही क्यों हो पाता? यह कहने से काम नहीं चलेगा कि काल के प्रवाह के स्वाभाविक थपेड़ों से यह सब हो गया। क्या काल कार्य-कारण नियम का भी उल्लंघन कर सकता है?

यूरोप ने ईसा से मुक्ति पायी

केवल वैदिक धर्म में मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपायों और साधनों का सम्यक् विचार एवं व्यवस्था की गई है। बौद्धों ने हमें कमजोर बनाया, उसी प्रकार ईसा ने ग्रीस और रोम को चौपट किया। किन्तु, सौभाग्य से कुछ ही समय पश्चात् यूरोपवासी प्रोटेस्टेण्ट हो गए। उन्होंने ईसा के उन उपदेशों का, जिनका प्रतिनिधित्व पोप की सत्ता द्वारा होता था, परित्याग कर दिया और सन्तोष की साँस ली। भारत में कुमारिल ने फिर कर्म मार्ग को चलाया। शंकर और रामानुज ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सामञ्जस्य एवं समन्वय करते हुए सनातन

वैदिक धर्म का पुनः दृढ़ता के साथ प्रवर्तन किया। इस प्रकार राष्ट्र के जीवन में पुनः संचार का प्रयास किया। किन्तु भारत में तीस कोटि आत्माओं को जगाना था, अतः देर लगी। क्या तीस करोड़ लोगों का पुनर्जागरण एक दिन में सम्भव था?



धर्म : भारत की आत्मा

प्रत्येक राष्ट्र का लक्ष्य विधाता के द्वारा पूर्व-निर्धारित है। प्रत्येक राष्ट्र के पास संसार को देने के लिए कोई न कोई सन्देश है। प्रत्येक राष्ट्र को किसी विशेष संकल्प की पूर्ति करनी है। अतः, प्रारम्भ में ही हमें अपनी जाति के जीवन लक्ष्य को समझ लेना होगा। उसे कौन-सा दैवी लक्ष्य पूर्ण करना है, विभिन्न राष्ट्रों के अभियान में उसे कहाँ और कौन-सा स्थान ग्रहण करना है, जातियों के सम्मिलित संगीत में उसे कौन-सा स्वर मिलाना है?

हम हिन्दू हैं

हम लोग हिन्दू हैं। मैं 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कर रहा हूँ और न मैं उन लोगों से सहमत हूँ जो समझते हैं कि इस शब्द के कोई बुरे अर्थ हैं। प्राचीनकाल में इस शब्द का अर्थ केवल इतना था - "सिन्धु तट के इस ओर बसने वाले लोग।" आज भले ही हमसे घृणा रखने वाले अनेक लोग इस शब्द पर कुत्सित अर्थ आरोपित करना चाहते हों, पर केवल नाम में क्या धरा है? यह तो हम पर निर्भर करता है कि 'हिन्दू' नाम ऐसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक हो जो महिमामय है, आध्यात्मिक है अथवा वह केवल कलंकित, पददलित, निकम्मी और धर्मभ्रष्ट जाति का प्रतीक है। यदि आज 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ लगाया जाता है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ! हम सब अपने आचरण से संसार को यह दिखा दें कि संसार की कोई भी भाषा इससे महान् शब्द का आविष्कार नहीं कर पायी है।

मेरे जीवन का यह सिद्धान्त रहा है कि मुझे अपने पूर्वजों को अपनाने में कभी लज्जा नहीं आई। मैं सबसे गर्वीले मनुष्यों में से एक हूँ। किन्तु, मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से बता दूँ, यह गर्व मुझे अपने कारण नहीं अपितु अपने पूर्वजों के कारण है। अतीत का मैंने जितना ही अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूतकाल पर दृष्टि डाली है, यह गर्व मुझमें उतना ही बढ़ता गया है। उसने मुझे साहसपूर्ण निष्ठा और शक्ति प्रदान की है। उसने मुझे धरती की धूल से उठाकर ऊपर खड़ा कर दिया और अपने महान् पूर्वजों के द्वारा निर्धारित उस महायोजना को पूर्ण करने में जुटा दिया। उन प्राचीन आर्यों की सन्तानों!

भगवत्कृपा से तुम भी उस गर्व से परिपूर्ण हो जाओ। तुम्हारे रक्त में अपने पूर्वजों के लिए उसी श्रद्धा का संचार हो जाये! यह तुम्हारे रग-रग में व्याप्त हो जाये और तुम संसार के उद्धार के लिए सचेष्ट हो जाओ।

प्रत्येक राष्ट्र का एक दैवी लक्ष्य

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय व्यक्तित्व भी होता है। जैसे एक व्यक्ति कुछ विशिष्ट बातों में, कुछ विशिष्ट लक्षणों में अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक जाति अपनी विशिष्टताओं के कारण अन्य जातियों से भिन्न होती है और जिस प्रकार प्रकृति की योजना में किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति करना ही प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होता है, जिस प्रकार उसके अपने पिछले कर्मों द्वारा उसकी भावी दिशा निर्धारित हो जाती है, ठीक ऐसा ही राष्ट्रों के साथ होता है। प्रत्येक राष्ट्र को एक पूर्व-निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण करना है। प्रत्येक राष्ट्र को एक विशेष सन्देश देना है। प्रत्येक राष्ट्र को किसी व्रत-विशेष का उद्यापन कराना है। अतः प्रारम्भ से ही हमें अपनी जाति के व्रत को, उसके पूर्व-निर्धारित लक्ष्य को समझ लेना होगा। उसे राष्ट्रों की पंक्ति में कौन-सा स्थान ग्रहण करना है। विभिन्न जातियों के सम्मिलित संगीत में कौन-सा स्वर मिलाना है।

राष्ट्रीय आत्मा

अपने देश में बचपन में हम किस्से सुना करते थे कि कुछ सर्पों के फण में मणि होती है। और जब तक मणि वहाँ है उसे किसी भी उपाय से नहीं मारा जा सकता। हमने कहानियों में ऐसे दैत्यों-दानवों के बारे में सुना है जिनके प्राण किन्हीं छोटी-छोटी चिड़ियों में बसे होते हैं। और, जब तक वे चिड़ियाँ सुरक्षित हैं संसार की कोई भी शक्ति उन दैत्यों का संहार नहीं कर सकती- चाहे तुम उनके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर डालो या कुछ भी करो, वे दैत्य नहीं मर सकते। यही बात राष्ट्रों के बारे में भी सत्य है। प्रत्येक राष्ट्र के प्राण भी किसी बिन्दु विशेष में केन्द्रित रहते हैं। वहीं उस राष्ट्र का राष्ट्रीयत्व बसता है और जब तक उस मर्मस्थान पर आघात नहीं होता, तब तक वह राष्ट्र नहीं मर सकता।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात भी आप देखेंगे कि यदि किसी राष्ट्र के केवल ऐसे अधिकारों का अपहरण किया जाय, जिनका उसके राष्ट्रीय उद्देश्य से गहरा सम्बन्ध नहीं है, यदि ऐसे सब अधिकार भी छीन लिये जायें तो भी उस राष्ट्र को बहुत अधिक असन्तोष न होगा। किन्तु, जब उस मूलभूत उद्देश्य पर, जिस पर राष्ट्रीय जीवन का सम्पूर्ण महल टिका है, छोटा आघात भी होगा तो वह राष्ट्र प्रचण्ड शक्ति से उसका प्रतिरोध करेगा।

फ्रांसीसी और अंग्रेजी चारित्र्य

उदाहरणार्थ, उन तीन वर्तमान जातियों की तुलना कीजिए, जिनका थोड़ा बहुत इतिहास आप जानते हैं। ये राष्ट्र हैं - फ्रांसीसी, अंग्रेजी एवं हिन्दू। फ्रांस के राष्ट्रीय चरित्र का मेरुदण्ड राजनीतिक अधिकार-स्वातन्त्र्य है। वहाँ की प्रजा सभी अत्याचारों को शान्त भाव से सहन करती है। उसे करों के भार से पीस डालिए, तो भी वह चूँ तक नहीं करेगी। सम्पूर्ण राष्ट्र को सेना में भरती होने के लिए बाध्य कर दीजिए तो भी वे शिकायत नहीं करेंगे। किन्तु, जिस क्षण कोई उसके राजनीतिक अधिकार-स्वातन्त्र्य के ऊपर हाथ डालेगा, तब सम्पूर्ण राष्ट्र एक होकर खड़ा हो जायेगा और पागलों की भाँति उसका प्रतिकार करेगा। फ्राँसीसी चारित्र्य का मूल सिद्धान्त है, “कोई व्यक्ति हमारे ऊपर बलपूर्वक शासन नहीं कर सकता। गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, उच्च कुल अथवा निम्न वर्ग, सभी का हमारे देश की सरकार तथा हमारे समाज के स्वतन्त्र नियन्त्रण में समान अधिकार है। जो हमारे इस अधिकार-स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप करना चाहेगा, उसे उसका दण्ड भोगना होगा।”

अंग्रेजों के चारित्र्य में आदान-प्रदान पर आधारित व्यवसाय-बुद्धि की प्रधानता है। अंग्रेज के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है-समान भाव एवं सुविधाओं तथा अधिकारों का समान वितरण। अंग्रेज लोग राजा की महत्ता तथा सामन्त वर्ग के विशेषाधिकारों को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु, यदि उसे अपनी गाँठ से एक छोटा सिक्का भी देना पड़ जाय तो वह पहले उसका हिसाब माँगता है। राजा है तो अच्छी बात, उसका ये लोग आदर करेंगे और उसकी आज्ञाओं का पालन करने को भी तत्पर रहेंगे, किन्तु यदि राजा भी पैसा माँगे तो अंग्रेज कहेगा, “ठीक है, किन्तु पहले यह समझाओ कि पैसा क्यों चाहिए, इससे क्या भला होनेवाला है? फिर, मुझे ‘उसको कैसे खर्च किया जाये’ इस बारे में मत व्यक्त करने का अधिकार दो, तब कहीं मैं पैसा दूँगा।” एक बार एक अंग्रेज राजा ने अंग्रेज जाति से बलपूर्वक धन वसूलने के प्रयास में ही अपने विरुद्ध महान क्रान्ति को आमन्त्रित कर लिया था। उन्होंने उस राजा को मार डाला।

हिन्दू चारित्र्य

हिन्दू कहते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक अधिकार-स्वातन्त्र्य बहुत अच्छी वस्तु है, परन्तु वास्तविक वस्तु है व्यक्ति को मुक्तिमार्ग पर बढ़ने के लिए पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, यही है हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य। तुम चाहे वैदिक, जैन या बौद्ध, चाहे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैत, किसी भी ‘मत’ को टटोल लो, ये सभी इस उद्देश्य पर एक

हैं। इसको न छुओ और चाहे जो करो, हिन्दू तनिक भी ध्यान नहीं देगा और चुप रहेगा। किन्तु, यदि कहीं तुमने इस मर्मस्थल को छेड़ दिया, तो सावधान! तुम सर्वनाश को निमन्त्रण दे दोगे। उसका सर्वस्व छीन लो, उसे ठोकर मारो, उसे चाहे काला आदमी कहो, चाहे और कोई गन्दा नाम दो, वह तनिक भी परवाह नहीं करेगा, पर केवल उसके धर्म के द्वार को खुला और अक्षुण्ण छोड़ दो। यही देखो, आधुनिक काल में कितने पठान वंश आये और चले गये, किन्तु वे भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें नहीं जमा सके; क्योंकि वे लगातार हिन्दुओं के धर्म पर आघात करते रहे। किन्तु, उसके विपरीत मुगल साम्राज्य कितना सुदृढ़ और प्रचण्ड सामर्थ्य-सम्पन्न बन सका। क्यों? क्योंकि; मुगलों ने उस मर्मस्थल को नहीं छेड़ा। वास्तव में हिन्दू ही मुगल साम्राज्य के मुख्य स्तम्भ बन गए।

हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, इतना ही नहीं तो हमारे राष्ट्रीय जीवन का भी मूलाधार है। इस समय मैं इस तर्क-वितर्क में नहीं पड़ना चाहता कि धर्म में यह केन्द्रीयकरण उचित है या नहीं, सही है या गलत अथवा कालान्तर में लाभप्रद है या नहीं। किन्तु, अच्छा हो या बुरा, यही वस्तुस्थिति है। अब तुम इससे पीछा नहीं छोड़ा सकते। सदा-सर्वदा के लिए तुम इससे बंध चुके हो और इसके सहारे ही खड़ा रहना होगा, भले ही धर्म में तुम्हारी मेरे जितनी निष्ठा न हो। तुम इसी धर्म से बंधे हुए हो और यदि तुम इसे छोड़ दोगे, तो तुम चूर-चूर हो जाओगे। यही हमारी जाति का प्राण है और तुम्हें उसे ही पुष्ट करना होगा।

सोमनाथ से शिक्षा लो

तुम जो युगों तक धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उसके लिए अन्य सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था, यहाँ तक कि मृत्यु को भी गले लगाया था। विदेशी विजेताओं ने मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े, किन्तु जैसे ही वह आँधी गुजरी, मन्दिर का शिखर पुनः खड़ा हो गया। दक्षिण भारत के ऐसे कुछ प्राचीन मन्दिर विशेषकर गुजरात का सोमनाथ मन्दिर तुम्हें अक्षय ज्ञान प्रदान करेगा। जाति के इतिहास के प्रति जिस गहरी दृष्टि को वे प्रदान करते हैं, वह ढेरों पुस्तकों से नहीं मिल सकती। ध्यान से देखो, इस मन्दिरों पर सैकड़ों आक्रमणों एवं सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न किस तरह अंकित हैं? वे बार-बार नष्ट हुए और खण्डहरों में से पुनः-पुनः उठ खड़े हुए-पहले की ही भाँति सशक्त एवं नवजीवनयुक्त। यही है हमारा राष्ट्रीय मानस, यही है हमारा राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह। इसका अनुसरण करो और गौरव प्राप्त करो। इसे त्याग दोगे तो मृत्यु निश्चित है। जिस क्षण तुम इस जीवन-

प्रवाह से बाहर कदम उठाओगे, मृत्यु एवं पूर्ण विनाश ही अवश्यम्भावी परिणाम होगा। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि अन्य बातें पूर्णतया अनावश्यक हैं। मेरा यह भी कहना नहीं है कि राजनीतिक अथवा सामाजिक सुधारों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है, “मैं इसे तुम्हारे मस्तिष्क पर स्थायी रूप से अंकित कर देना चाहता हूँ कि यहाँ धर्म ही मुख्य आवश्यकता है, अन्य सब चीजें गौण हैं।”

सहस्रों शताब्दियों का चारित्र्य

अब तुम स्पष्टतया समझ चुके होगे कि ‘इस राष्ट्र का प्राण कहाँ है?’ वह धर्म में है। कोई उसको नष्ट नहीं कर पाया, इसीलिए हिन्दू जाति इतनी आपत्ति-विपत्तियों को सहकर भी आज जीवित है। एक भारतीय विद्वान् ने पूछा, “राष्ट्र के प्राणों को धर्म में बनाये रखने की ही क्या आवश्यकता है? क्यों न अन्य राष्ट्रों के समान अपने राष्ट्र के प्राणों को भी राजनीतिक या सामाजिक स्वाधीनता में रखा जाये?” यह बात कहने में ही सरल है।

यदि केवल तर्क के लिए ही यह मान लें कि धर्म और आध्यात्मिक स्वाधीनता, आत्मा, परमात्मा और मुक्ति आदि सब मिथ्या बातें हैं, तो क्या होगा, इस पर विचार कीजिये। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को अनेक रूपों में प्रकाशित करती है; उसी प्रकार एक महाशक्ति फ्रांसीसियों में राजनीतिक अधिकार-स्वातन्त्र्य का रूप लेकर, अंग्रेजों में वाणिज्य बुद्धि एवं समभाव के विस्तार के रूप में तथा हिन्दुओं में आध्यात्मिक स्वाधीनता अथवा मुक्ति का रूप लेकर स्वयं को प्रकाशित कर रही है। और ध्यान दो; उस महाशक्ति की प्रेरणा से ही कई शताब्दियों में अनेक प्रकार के सुख-दुःखों से गुजर कर फ्रांसीसी और अंग्रेज जाति का चरित्र-गठन हुआ है और उसी की प्रेरणा से सहस्रों शताब्दियों के आवर्तन में हिन्दुओं के जातीय चरित्र का विकास हुआ है। मैं गम्भीरतापूर्वक पूछता हूँ, “कौन सा मार्ग सरल है? लाखों वर्षों में विकसित राष्ट्रीय चरित्र का परित्याग अथवा सौ-पचास वर्षों में अपनायी हुई विदेशी आदतों को त्याग देना? क्यों नहीं, अंग्रेजी अपने युद्धलोलुप स्वभाव को त्यागकर मार-काट बन्द कर देते और धर्म को अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाने में सम्पूर्ण शक्तियाँ लगाकर ध्यानावस्थित हो जाते?”

सच्ची बात यह है कि जो नदी पर्वतों में अपने उद्गम स्थान से उतर कर सहस्रों कोस आगे चली आयी हो; क्या वह फिर अपने मूल स्रोत पर वापस जा सकेगी अथवा जा सकती है? यदि वह अपना प्रवाह उलटने का प्रयास करे तो परिणाम यही होगा कि

उसका जल इधर-उधर बिखर कर सूख जायगा। चाहे जैसे हो, नदी का देर-सबेर समुद्र में गिरना अनिवार्य है चाहे उसे खुले और रमणीय मैदानों से गुजरना पड़े, चाहे गन्दी और कठोर भूमि में से मार्ग निकालने के लिए संघर्ष करना पड़े। यदि इन दस हजार वर्षों का हमारा राष्ट्रीय जीवन एक भूल है तो भी कोई चारा नहीं। यदि हम अब कोई नया चरित्र अपनाने का प्रयास करेंगे तो उसका अपरिहार्य परिणाम होगा हमारी मृत्यु।

हमारी राष्ट्रीय चेतना के छिपे अनिकण

मेरे मतानुसार हमारा यह सोचना कि 'हमारा राष्ट्रीय आदर्श एक भूल रही है' निरी मूर्खता और विवेक का अभाव मात्र है। पहले अन्य देशों में जाइए और अपनी आँखों से (दूसरों की आँखों से नहीं) वहाँ की अवस्था तथा आचार-विचार का सूक्ष्म अध्ययन कीजिए। फिर विचारशील मस्तिष्क से, यदि आपके पास है तो, उन पर चिन्तन-मनन कीजिए। फिर अपने शास्त्रों के प्राचीन वाङ्मय को टटोलिए, सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कीजिए और खुली आँखों तथा सूक्ष्म एवं मर्मभेदी दृष्टि से उसके विभिन्न भागों के निवासियों के आचार-विचार तथा आदतों का निरीक्षण कीजिए। तब आपको मध्याह्नकालीन सूर्य के समान स्पष्ट हो जायगा कि इस राष्ट्र का जीवन अभी अक्षुण्ण है, उसकी नाड़ियों में प्राणों का स्पन्दन निश्चित रूप से विद्यमान है।

तब आपको पता चलेगा कि इस बाह्य मूर्च्छा की राख के नीचे राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला अब भी सुलग रही है। राष्ट्र का प्राण धर्म है, इसकी भाषा धर्म है तथा इसका भाव धर्म है। आपकी राजनीति, समाजनीति, नगरों की सफाई, प्लेग-निवारण कार्य, अकालपीड़ित-सहायता कार्य आदि सब चीजें आज तक जिस ढंग से यहाँ होती आती हैं, उसी मार्ग से अब भी होंगी अर्थात्, केवल धर्म के माध्यम से होंगी, अन्यथा तुम्हारी चीख-पुकार का कोई परिणाम नहीं निकलेगा।

राष्ट्रीय जीवन-संगीत के विभिन्न स्वर

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अलग कार्यप्रणाली होती है। कुछ राजनीति के माध्यम से कार्य करते हैं तो कुछ सामाजिक सुधारों के माध्यम से और अन्य इससे भी भिन्न मार्गों से। हमारे लिए धर्म का ही एकमेव मार्ग खुला है। अंग्रेज धर्म को राजनीति के माध्यम से ही समझ सकता है। सम्भवतः अमेरिकन को धर्म सामाजिक सुधारों के माध्यम से ही समझ में आ सकता है, किन्तु हिन्दू को राजनीति भी धर्म की भाषा में समझानी होगी। उसके लिए प्रत्येक चीज धर्म के माध्यम से आनी चाहिए। यही हमारे राष्ट्रीय संगीत का स्थायी स्वर है, अन्य सब स्वर परिवर्तनशील हैं।

जिस राष्ट्र का जीवन-लक्ष्य राजनीतिक प्रभुता है, उसके लिए धर्म आदि अन्य सब चीजें उस एक महान जीवन लक्ष्य के आधीन हो जाती हैं किन्तु यहाँ एक दूसरा राष्ट्र है जिसके जीवन का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिकता और त्याग है, जिसका एक ही मूलमन्त्र है कि यह संसार माया है और तीन दिनों का क्षणभंगुर खेल है। अन्य सब कुछ - चाहे विज्ञान हो या ज्ञान, सुखोपभोग हो या प्रभुता, धन-वैभव हो या नाम और यश-उस एक लक्ष्य के अन्तर्गत आने चाहिये। सच्चे हिन्दू के चारित्र्य का रहस्य इसी में है कि वह पाश्चात्य-विज्ञान एवं विद्याओं के अपने समस्त ज्ञान को अपनी सम्पत्ति व धन-वैभव को, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा यश को इस एक मुख्य लक्ष्य के आधीन कर दे जो जन्म से ही प्रत्येक हिन्दू शिशु को प्राप्त होता है- अर्थात् आध्यात्मिकता एवं जातीय शुद्धता।

आध्यात्मिकता का आधार न छोड़ो

स्मरण रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर आध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा जातीय अस्तित्व मिट जायेगा; क्योंकि राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायेगा; राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जायेगी। इस सबका परिणाम होगा सर्वतोमुखी सत्यानाश।

अतः मित्रों! एक ही मार्ग शेष है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों की इस अमूल्य विरासत 'आध्यात्मिकता' की पकड़ को कदापि ढीला न होने दें। क्या तुमने संसार में कोई ऐसा देश सुना है जहाँ महानतम राजाओं ने अपनी वंश-परम्परा का स्रोत राजाओं से नहीं, निरीह यात्रियों को लूटने वाले, पुराने किलों में रहने वाले लुटेरों-सरदारों से नहीं तो वनों में रहने वाले अर्धनग्न संन्यासियों से जोड़ा हो! क्या तुमने कभी ऐसा देश सुना है? तो सुनो! यही है वह देश। अन्य देशों के बड़े पादरी-पुरोहित भी अपनी वंश-परम्परा को किसी राजा से जोड़ने का प्रयास करते हैं, किन्तु यहाँ बड़े-से-बड़ा सम्राट् भी अपने को किसी प्राचीन ऋषि का वंशज कहने में गौरव मानता है।

इसलिए, आध्यात्मिकता में तुम्हारी आस्था हो या न हो, राष्ट्रीय जीवन की रक्षा हेतु तुम्हें आध्यात्मिकता के आधार पर टिके रहना होगा। फिर दूसरा हाथ बढ़ाकर अन्य जातियों से जो कुछ लेना चाहो, ले लो, किन्तु जो भी उनसे ग्रहण करो, उसे अपने जीवन-आदर्श के अधीन कर दो। तब एक चमत्कारी गौरवशाली भावी भारत का उदय होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह होकर रहेगा! पहले से कहीं अधिक महान् भारत का उदय अवश्यम्भावी है।

दुनिया के लोग ऐसी आदर्श समाज-व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उन्हें उसकी जरूरत है। इस निमित्त सारी दुनिया में भागीदर प्रयत्न हो रहे हैं और प्रत्येक मतवाद ऐसे समाज को विकसित करने का प्रयास कर रहा है। प्रत्येक मतवाद को ऐसे समाज की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, जिसमें समाज के विभिन्न घटकों के मध्य सन्तुलित सामाजिक सम्बन्ध रहे तथा उनके बीच एक शोषण-मुक्त, खुशहाल एवं सन्तोषपूर्ण समाज-व्यवस्था हो। आदर्श समाज को मनुष्य की मनोशारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। इसके साथ ही उसे मनुष्य के अन्तर की तीव्र आकांक्षा को भी सन्तुष्ट करना चाहिए। हमारे पूर्वजों ने ऐसे समाज का विकास किया था और वे पूर्ण विश्वासपूर्वक उसकी घोषणा करते थे। वे विश्वजनों को इस समाज में आने, उसे देखने और अपने स्वयं के कल्याण हेतु उसके नीति-उपदेशों का पालन करने के लिए आमन्त्रित करते थे। मनु कहते हैं-

एतदेशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मः।

स्वं स्वं च विभ्रं शिक्षयेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २.२०॥

“समस्त विश्वासियों को इस क्षेत्र में जन्मे ब्रह्मजनों से अपने जीवन एवं व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।” ब्राह्मण लोग समाज शास्त्रीय विचारक थे। उन्होंने ऐसी समाज-व्यवस्था विकसित की थी कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी राष्ट्रीयता, धर्म, रंग और मत-पन्थ का हो, सफल वैयक्तिक जीवन तथा द्वन्द्व-मुक्त एवं पूर्ण समाज के नीति-नियमों का पालन कर सकता था।”

- माननीय एकनाथजी रानडे (सेवा ही साधना)

पुनरुत्थान का कार्य : आधार और दिशा

हे भारत!

केवल दूसरों की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाकर, दूसरों की इस क्षुद्र नकल के द्वारा, दूसरों का ही मुँह ताकते रहकर... क्या तू इसी पाथेय के सहारे, सभ्यता और महानता के चरम शिखर पर चढ़ सकेगा?

क्या तू अपनी इस लज्जास्पद कायरता के द्वारा उस स्वाधीनता को प्राप्त कर सकेगा जिसे पाने के अधिकारी केवल साहसी और वीर हैं?

हे भारत!

मत भूल तेरे नारीत्व का आदर्श सीता, सावित्री और दमयन्ती हैं।

मत भूल कि तेरे उपास्यदेव देवाधिदेव सर्वस्वत्यागी, उमापति शंकर हैं।

मत भूल कि तेरा विवाह, तेरी धन-सम्पत्ति, तेरा जीवन केवल विषय-सुख के हेतु नहीं है, केवल तेरे व्यक्तिगत सुखोपभोग के लिए नहीं है।

मत भूल कि तू माता के चरणों में बलि चढ़ने के लिए ही पैदा हुआ है। मत भूल कि तेरी समाज-व्यवस्था उस अनन्त जगद्जननी महामाया की छाया मात्र है।

मत भूल कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, अनपढ़, चमार, मेहतर सब तेरे रक्त मांस के हैं, वे सब तेरे भाई हैं।

ओ वीर पुरुष!

साहस बटोर, निर्भीक बन और गर्व कर कि तू भारतवासी है। गर्व से घोषणा कर कि “मैं भारतवासी हूँ, प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है।” मुख से बोल, “अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र और पीड़ित भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सभी मेरे भाई है।” तू भी एक चिथड़े से अपने तन की लज्जा को ढँक ले और गर्वपूर्वक उच्च-स्वर से उद्घोष कर, “प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं। भारतवर्ष का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरे यौवन की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है।”

मेरे भाई!

कह : “भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है।”
अहोरात्र जपा कर, “हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो। हे शक्तिमयी माँ! मेरी दुर्बलता को हर लो; मेरी कापुरुषता को दूर भगा दो और मुझे मनुष्य बना दो, माँ।”

पश्चिम का सब कुछ श्रेष्ठ?

वर्तमान (१९वीं) शताब्दी के आरम्भ में, जब पाश्चात्य प्रभाव भारत पर पड़ना शुरू हुआ, जब पाश्चात्य विजेता हाथ में कृपाण धारणकर ऋषियों के वंशजों को समझाने आये कि ‘तुम्हारे पूर्वज असभ्य थे; निरे स्वप्नद्रष्टा थे; उनका धर्म केवल पौराणिक गपोड़बाजी था; आत्मा, परमात्मा आदि चीजें, जिनके साक्षात्कार के लिए वे जूझ रहे थे, केवल अर्थहीन शब्द हैं; उनका सहस्रों वर्षों का संघर्ष, उनका सहस्रों वर्षों का असीम त्याग यह सब व्यर्थ हुआ’, तब विश्वविद्यालयों के पढ़े-लिखे युवकों के मस्तिष्क को इन प्रश्नों ने आन्दोलित कर डाला कि क्या अब तक का हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय अस्तित्व व्यर्थ रहा? क्या अब हमें अपने पुराने शास्त्रों को फाड़ डालना चाहिए? अपने दर्शनों की होली जला डालना चाहिए? अपने धर्मोपदेशकों को दूर फेंक देना चाहिए? इन मन्दिरों को ढहा डालना चाहिए और पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के अनुसार अपनी राष्ट्रीय जीवन-यात्रा का नया श्रीगणेश करना चाहिए? क्या पाश्चात्य विजेता ने, जिसने अपने धर्म की श्रेष्ठता का परिचय तलवार और बन्दूक के माध्यम से दिया, हमें यह नहीं बताया कि सभी पुराने आचार-विचार निरे अन्धविश्वास और मूर्तिपूजा पर आधारित हैं?”

इन नये स्कूलों में शिक्षित एवं विकसित बच्चों ने जो बचपन से इन विचारों की सुरा पी रहे थे, पाश्चात्य ढंग पर जीवन-यात्रा प्रारम्भ की। अतः उनके मस्तिष्कों में ये प्रश्न उठे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु अन्धविश्वास से ऊपर उठकर सत्य की वास्तविक खोज करने के बजाय उनके लिए सत्य की एकमेव कसौटी हो गई, “पश्चिम क्या कहता है? चूँकि पश्चिम ने कहा है, अतः पुरोहितों को भगा दो, वेदों को जला दो।”

सर्वत्र शक्ति की उपासना

मैंने पश्चिम में भी देखा कि दुर्बल राष्ट्रों के बच्चे, यदि इंग्लैण्ड में जन्म लेते हैं, तो अपनी सभी राष्ट्रीयता-ग्रीक, पोर्तुगीज, स्पेनिश आदि... के स्थान पर स्वयं को इंग्लिशमैन कहना पसन्द करते हैं। सब शक्तिशाली की ओर झुकते हैं। दुर्बलों की एक ही लालसा

रहती है कि किसी प्रकार महिमावान में प्रभासित महिमा की आभा इन पर पड़ जाय और उनके शरीरों में भी प्रतिभासित होने लगे अर्थात् ये दुर्बल, अपने पौरुष से महान बनने वालों से प्रकाश उधार लेकर चमकना चाहते हैं।

भारत मोहनिद्रा से जाग रहा है

भारतवर्ष की वर्तमान शासन प्रणाली में कई दोष हैं, परन्तु साथ ही कई बड़े गुण भी हैं। सबसे बड़ा गुण तो यह है कि पाटलिपुत्र-साम्राज्य के पतन के पश्चात् से अब तक आसेतुहिमाचल सम्पूर्ण भारतवर्ष पर ब्रिटिश शासन तन्त्र के समान केन्द्रीय एवं शक्तिशाली शासनतंत्र की छत्रछाया कभी नहीं रही।

इस वैश्वप्रभुता के अन्तर्गत कर्मठ वैश्व वृत्ति के अनुकूल जिस प्रकार व्यापारिक वस्तुओं का विश्व के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आदान-प्रदान चल रहा है, उसी प्रकार उसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के विचार एवं भाव भी भारत की नसों में बलपूर्वक घुसते जा रहे हैं। इन विचारों और भावों में यदि कुछ सचमुच भारत के लिए लाभदायक है तो कुछ हानिकारक भी है और कुछ से भारतवासियों के वास्तविक हितों के बारे में विदेशियों की अज्ञता एवं असमर्थता ही प्रकट होती है।

किन्तु इन समस्त गुण-दोषों को भेदकर भारत की भावी समृद्धि का सूर्योदय अवश्यम्भावी है। एक ओर अपने प्राचीन राष्ट्रीय आदर्शों एवं दूसरी ओर विदेशी राष्ट्रों के नव प्रविष्ट विचित्र आदर्शों के पारस्परिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप भारत धीरे-धीरे अपनी सुदीर्घ प्रगाढ़ तन्द्रा से जाग रहा है।

इस अल्प जागृति के फलस्वरूप आधुनिक भारत में मुक्त और मौलिक चिन्तन का भी थोड़ा-बहुत उदय होने लगा है। एक ओर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान है, जो सैकड़ों सूर्यों के प्रकाश की भाँति हमारे नेत्रों को चकाचौंध कर रहा है, जो यथार्थ भेदी भौतिक शक्तियों के विनियोग द्वारा संगृहीत कठोर और सुनिश्चित तथ्यों के रथ पर बैठकर आगे बढ़ रहा है, तो दूसरी ओर हैं वे आशादायी एवं सशक्त परम्पराएँ, जिन्हें उसके पूर्व-पुरुषों ने उन दिनों बनायी थीं जब वह अपने गौरव के चरम शिखर पर आसीन था; जो परम्परायें असंख्य वर्षों और शताब्दियों से भारत की प्रत्येक रग में विश्व-बन्धुत्व से अनुप्राणित कर्म-चैतन्य का संचार कर रही हैं; जो परम्परायें उन अद्वितीय शौर्य, अतिमानव प्रतिभा और चरम आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं, जिनसे देवता भी ईर्ष्या करते हैं। ये दोनों ही भारत की भावी आशाओं को बल प्रदान करते हैं।

एक ओर विदेशी साहित्य के माध्यम से चरम भौतिकवाद, प्रचुर धन-सम्पत्ति, प्रभूत बल-संचय और उत्कट इन्द्रिय सुख की कामना ने जीवन में अपूर्व कोलाहल मचा रखा है, दूसरी ओर इस बेसुरे संगीत के कर्णभेदी कोलाहल को विदीर्ण कर उसके कानों में अपने पुरातन देवताओं की मर्मभेदी पुकार, मन्द किन्तु अचूक स्वर में आ रही है और उसे नयी दिशा में एक कदम आगे बढ़ने से रोक रही है।

उसके सामने पश्चिम से आयी विविध-विचित्र विलास सामग्री बिखरी पड़ी है- ये बढ़िया पेय, ये सुन्दर स्वादिष्ट भोजन, ये तड़क-भड़कदार वस्त्र, शानदार अट्टालिकाएँ, नये युग के वाहन, नये शिष्टाचार और ये नये-नये फैशन, जिसमें सज-धजकर सुशिक्षित लड़कियाँ अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक पूर्ण स्वच्छन्दता से घूमती-फिरती हैं। ये सब सामग्री न जाने कितनी नयी-नयी इच्छाओं तथा वासनाओं को भड़का रही हैं।

किन्तु फिर दृश्य बदलता है और उनकी जगह आ जाती है सीता और सावित्री, व्रत और उपवास, तपोवन और जटाजूटधारी काषाय वस्त्रधारी अर्धनग्न संन्यासी, समाधि और आत्म-साक्षात्कार की ठोस साधना। एक ओर निजी स्वार्थ पर आधारित पाश्चात्य समाजों का अधिकार स्वातन्त्र्य है, दूसरी ओर आर्य जाति का चरम आत्मोत्सर्ग है। इस विषम संघर्ष में यदि भारतीय समाज की नैया थोड़ी बहुत डगमगा गई तो उसमें आश्चर्य क्या?

पाश्चात्य जगत् का साध्य है व्यक्तिगत अधिकार स्वातन्त्र्य, उसकी साधना है धनोपार्जक शिक्षा, उसका साधन है राजनीति; जब कि भारत का लक्ष्य है 'मुक्ति', उसकी साधना है वेदाध्ययन और उसका साधन है निवृत्ति।

वर्तमान भारतवर्ष मानो एक बार सोचने लगता है कि कहीं मैं परलोक के अनिश्चित आध्यात्मिक कल्याण की निरर्थक आशा में पड़कर इस लोक का सत्यानाश तो नहीं कर रहा हूँ? किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्तब्ध हो सुनता है; 'इति संसारे स्फुटतर दोषः, कथमिह मानव तब सन्तोषः' अर्थात् "अनेक दोषों से परिपूर्ण इस संसार में, हे मानव! तेरा सुख कहाँ है?"

एक ओर, नया भारत कहता है, "पाश्चात्य भाव, पाश्चात्य भाषा, पाश्चात्य खान-पान और पाश्चात्य आचार को अपनाकर ही हम पाश्चात्य राष्ट्रों के समान शक्तिशाली हो सकेंगे," दूसरी ओर पुराना भारत कहता है, "हे मूर्ख! कहीं नकल करने से भी दूसरों का भाव अपना हुआ है? बिना स्वयं कमाये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल ओढ़कर गधा भी सिंह बन सकता है?"

नवीन भारत पुनः कहता है, “पाश्चात्य राष्ट्र जो कुछ कर रहे हैं वही अच्छा है। अन्यथा, वे लोग इतने शक्तिशाली होते ही कैसे?” दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है, “बिजली की चमक बहुत तेज होती है, किन्तु क्षणिक होती है। बच्चों! आँखें खोलो, तुम्हारी आँखें उससे चौंधिया गई हैं, किन्तु सावधान!”

सीखो, किन्तु अन्धानुकरण न करो

तो क्या हमें पाश्चात्य जगत् से कुछ भी सीखने को नहीं है? क्या हमें अच्छी चीजों के लिए प्रयत्न और परिश्रम करने की आवश्यकता ही नहीं है? क्या हम स्वयंपूर्ण हैं, क्या हमारा समाज बिल्कुल छिद्रशून्य है, क्या उसमें कोई त्रुटि नहीं है? नहीं, सीखने को बहुत कुछ है। नयी और श्रेष्ठतर चीजों की उपलब्धि के लिए हमें मृत्युपर्यन्त संघर्ष करते रहना चाहिए।

श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, “मैं जब तक जीऊँ, सीखता ही रहूँ।” जिस व्यक्ति या समाज को कुछ सीखना नहीं रह गया है, वह काल के गाल में प्रविष्ट हो चुका है। अवश्य ही हमें पश्चिम से अनेक बातें सीखनी चाहिए, किन्तु इसके साथ ही कई भय भी है।

एक अल्पबुद्धिवाला बालक भी श्रीरामकृष्णदेव के सम्मुख सदैव शास्त्रों की निन्दा किया करता था। एक दिन उसने भगवद्गीता की प्रशंसा की तो श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, “मेरा अनुमान है कि किसी यूरोपीय पंडित ने गीता की प्रशंसा की होगी, इसलिए यह भी उसका अनुकरण कर रहा है।”

हे भारत! यह तुम्हारे लिए सबसे भयंकर खतरा है। पश्चिम के अन्धानुकरण का जादू तुम्हारे ऊपर इतनी बुरी तरह सवार होता जा रहा है कि ‘क्या अच्छा है और क्या बुरा’ इसका निर्णय अब तर्क-बुद्धि, न्याय, हिताहित, ज्ञान अथवा शास्त्रों के आधार पर नहीं किया जा रहा है। जिन विचारों, जिन आचारों को गोरे साहब पसन्द करें अथवा जिनकी वे प्रशंसा करें, वही बातें अच्छी हैं, जिन बातों की वे निन्दा करें अथवा नापसन्द करें, वही बुरी। ओह, इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और कोई क्या देगा?

उनका अमृत हमारे लिए विष हो सकता है

हमें अपनी प्रकृति के अनुकूल विकास करना होगा। विदेशी समाजों द्वारा हम पर बलात् आरोपित कार्य-प्रणालियों का अनुगमन करना हमारे लिए निरर्थक है। यह असम्भव भी है। ईश्वर को धन्यवाद है कि यह नहीं हुआ और हमें दूसरे राष्ट्रों के साँचे

में तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता। मैं अन्य जातियों की सामाजिक संस्थाओं की निन्दा नहीं करता, वे उनके लिए अच्छी हैं, किन्तु हमारे लिए नहीं। जो उनके लिए अमृत है, वही हमारे लिए विषतुल्य हो सकता है। यह पहला पाठ है, जिसे हमें स्मरण रखना है। उनकी वर्तमान जीवन-प्रणाली के पीछे दूसरी विद्याएँ हैं, दूसरी संस्थाएँ हैं और दूसरी परम्पराएँ हैं। हम अपनी परम्पराओं के कारण, अपने पीछे सहस्रों वर्षों के कर्म-संचय के कारण, अपनी ही प्रवृत्ति के अनुसार आगे बढ़ सकते हैं, अपने जीवन-प्रवाह के अनुकूल रहकर ही प्रगति कर सकते हैं।

दो प्रकार की सभ्यताएँ

संसार में समाज-रचना के दो पृथक् प्रयास किये गए हैं। एक का अधिष्ठान धर्म रहा है तो दूसरे का आधार केवल सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति। एक आध्यात्मिकता की नींव पर खड़ा हुआ तो दूसरा जड़वाद की। एक अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित है तो दूसरा घोर यथार्थवाद पर। यदि एक इस छोटे से भौतिक जगत् के क्षितिज के परे देख रहा है और इस लोक की उपेक्षा करके भी वहाँ से जीवन का श्रीगणेश करने का साहस रखता है, तो दूसरा इसी लोक की चीजों में सुख मान रहा है और यहीं जीवन का अटल आधार खोज रहा है।

स्वाभाविक ही दोनों की अपनी-अपनी भिन्न रचना-विधि हैं। भारत धार्मिक या अन्तर्मुखी है तो पश्चिम इन्द्रियगम्य वैज्ञानिक अथवा बहिर्मुखी है। पश्चिम आध्यात्मिकता का प्रत्येक कण समाज सुधार के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। पूर्व आध्यात्मिकता के माध्यम से सामाजिक उत्थान के प्रत्येक सोपान पर बढ़ने की आकांक्षा रखता है। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय सुधारकों को सुधार का कोई मार्ग सूझा ही नहीं, सिवाय इसके कि सर्वप्रथम यहाँ के धर्म को कुचला जाय। उन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे। क्यों? क्योंकि; उनमें से बहुत कम ने अपने धर्म का अध्ययन किया था और एक ने भी वह कठोर साधना नहीं की जिसके द्वारा ही सब धर्मों की इस जननी को समझा जा सकता था।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू समाज के सुधार के लिए धर्म का विनाश आवश्यक नहीं है। और, हमारे समाज की इस दुरावस्था का कारण धर्म नहीं है, बल्कि धर्म का सामाजिक जीवन में यथोचित पालन न होना है।

समन्वय आवश्यक, किन्तु भारत यूरोप नहीं बन सकता

किन्तु, साथ ही भारत में नई परिस्थितियाँ समाज-संगठन में नये सुधारों की लगातार माँग कर रही हैं। विगत ५०-५५ वर्षों से भारत में सुधारकों एवं सुधारवादी संस्थाओं की बाढ़-सी आ गई है। किन्तु ओह! उनमें से प्रत्येक को असफलता मिली है। उन्हें मूल रहस्य का पता ही नहीं था। उन्हें जिस महापाठ को सीखना चाहिए था, उसे उन्होंने सीखा ही नहीं। उतावलेपन में उन्होंने समाज के समस्त दोषों का पाप 'धर्म' के मत्थे मढ़ दिया। उन्होंने एक प्रचलित लोक कथा के अनुसार मित्र के माथे पर बैठे हुए मच्छर को मारने के प्रयास में मच्छर और मित्र दोनों को एक साथ मारने का प्रयास किया। किन्तु हमारे यहाँ, सौभाग्य से, उन्होंने केवल अचल चट्टानों के विरुद्ध अपना सिर टकराया और परिणामस्वरूप उनका अपना ही अस्तित्व मिट गया।

उन उदार एवं निस्वार्थ आत्माओं का भला हो, जिन्होंने यथाशक्ति संघर्ष किया, किन्तु जिनके प्रयास पथभ्रष्ट होने के कारण विफल रहे। इस सोये हुए कुम्भकर्ण को जगाने के लिए उनकी सुधारवादी तृष्णा से उत्पन्न इन प्रबल आघातों का लगना आवश्यक था। किन्तु रचनात्मक न होकर, वे पूर्णतया विध्वंसात्मक थे। अतः उनका विनष्ट होना अवश्यम्भावी था और वे काल के गाल में समा भी गए।

हम उन सुधारकों के लिए शुभकामनाएँ रखें और उनके अनुभवों से शिक्षा लें। उन्होंने यह महत्वपूर्ण पाठ नहीं पढ़ा था कि विकास अन्दर से बाहर को होता है, और सम्पूर्ण बाह्य विकास पहले से विद्यमान शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र है। उन्हें यह भी पता नहीं था कि बीज अपने चारों ओर के तत्त्वों को केवल आत्मसात् कर लेता है, किन्तु वह अपनी प्रकृति के अनुकूल वृक्ष को ही जन्म देता है। जब तक हिन्दू जाति का नामोनिशान नहीं मिट जाता और कोई नयी जाति इस भूमि पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं जमा लेती, तब तक यह कभी नहीं हो सकेगा- चाहे पूर्व प्रयास करे या पश्चिम। भारत यूरोप कभी नहीं बनेगा।

मैं भी मानता हूँ कि हमें अन्य राष्ट्रों से बहुत-सी अच्छी बातें लेना है। हमें विदेशों से बहुत कुछ सीखना है। किन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे अधिकांश वर्तमान सुधार-आन्दोलन पश्चिमी साधनों एवं कार्य-प्रणाली की अन्धी नकल है, और यह निश्चित ही भारत के लिए हितकर नहीं है। यही कारण है कि हमारे सब आधुनिक सुधार-आन्दोलनों का कोई फल नहीं निकला। हमें परम्परा और इतिहास से प्राप्त अपने जातीय चरित्र को अक्षुण्ण रखने का प्रयास करना चाहिए।

सनातन बनाम अनित्य

सर्वप्रथम हमें प्रत्येक वस्तु में नित्य और अनित्य तत्त्व को विवेचन करना चाहिए। नित्य सनातन होता है और अनित्य की केवल सामयिक उपयोगिता रहती है। उदाहरणार्थ, जातियाँ निरन्तर बदल रही हैं। धार्मिक कर्मकाण्ड भी सतत बदलते रहे हैं। ऐसा ही अन्य समस्त बाह्य रूपों का भी होता है। किन्तु उनका मूलाधार, मूल-सिद्धान्त कभी नहीं बदलता। हमें अपने धर्म के मूलस्वरूप का अध्ययन वेदों में ही करना होगा। वेदों के अतिरिक्त प्रत्येक पुस्तक परिवर्तनशील है।

वेद सनातन हैं और सब कालों में एक ही रहेंगे। किन्तु स्मृतियों का अन्त भी होगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा नवीन स्मृतियाँ बनती रहेंगी, नये ऋषि आयेंगे और वे युग के आवश्यकतानुसार समाज को बदलेंगे और अच्छे मार्गों से अच्छे कर्मों पर चलायेंगे, क्योंकि इसके बिना समाज का जीवित रहना असम्भव है।

अतीत में इस देश में अनेक महान कार्य हुए हैं और उससे भी महान कार्य करने का पर्याप्त समय और क्षेत्र अभी शेष है। तुम यह जानते ही हो कि हम एक जगह जड़वत् नहीं रुके रह सकते। यदि हम जड़वत् खड़े रहे तो हम मर जायेंगे। हमें आगे जाना होगा या पीछे हटना पड़ेगा। हमें उन्नति की ओर अग्रसर होना होगा, अन्यथा हमारी अवनति अपने आप होती जायेगी। हमारे पूर्व-पुरुषों ने प्राचीनकाल में बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं, पर हमें उनसे भी अधिक पूर्ण जीवन का विकास करना होगा और उनकी महान उपलब्धियों को लाँघकर आगे बढ़ना होगा। अब हम पीछे कैसे हट सकते हैं और अपनी अवनति को निमन्त्रण कैसे दे सकते हैं? ऐसा कभी नहीं हो सकता। पीछे हटने का अर्थ है राष्ट्रीय पतन और मृत्यु। अतएव, 'अग्रसर होकर महत्तर कर्मों का अनुष्ठान करें।' यही मुझे तुमसे कहना है।

भारत की प्राचीन समाज-संस्थाएँ

यद्यपि हमारी जातिप्रथा एवं अन्य संस्थाएँ बाहर से देखने पर धर्म से जुड़ी हुई लगती हैं, तथापि वस्तुस्थिति यह नहीं है। ये संस्थाएँ हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के संरक्षण के लिए आवश्यक रही हैं, किन्तु जब आत्मसंरक्षण की यह आवश्यकता समाप्त हो जायेगी, ये सभी संस्थाएँ अपनी स्वाभाविक मृत्यु मर जायेंगी।

मेरी आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मुझे भारत की इन प्राचीन संस्थाओं की श्रेष्ठता स्पष्ट होती जा रही है। एक समय था, जब मैं इनमें से अनेक को निकम्मा और निरुपयोगी समझता था, किन्तु जैसे-जैसे मेरी आयु बढ़ती जा रही है, उनमें से किसी की

भी निन्दा करने का मेरा साहस कम होता जा रहा है; क्योंकि उनमें से प्रत्येक शताब्दियों के अनुभवों का परिपाक है।

एक कल का बच्चा, जो अगले दिन ही मर जानेवाला है, मेरे पास आता है और कहता कि 'तुम अपनी समस्त योजनायें बदल दो, यदि मैं उस बच्चे की सलाह मानकर अपने समस्त वातावरण को उसके विचारों के अनुसार बदल डालूँ, तो मेरे समान मूर्ख और कौन होगा ?

अनेक देशों से हमें जो परामर्श मिल रहा है, वह इसी श्रेणी में आता है। इन बुद्धि के ठेकेदारों को बता दो— “मैं तुम्हारी बात तब सुनूँगा, जब तुम पहले अपने यहाँ एक स्थायी समाज की रचना करके दिखा दोगे। तुम दो दिन तो एक विचार पर टिक नहीं सकते, आपस में झगड़ने लगते हो और असफल हो जाते हो। तुम बरसाती जुगनुओं की तरह दो घड़ी चमकते हो और तिरोहित हो जाते हो। तुम बुलबुले की तरह उठते हो और तुरन्त विलीन हो जाते हो। पहले हमारे जैसा स्थायी समाज खड़ा करो। पहले ऐसे नियम और संस्थाएँ बनाओ जिसकी आन्तरिक शक्ति शताब्दियों तक टिकी रहे। तभी तुम इस विषय पर बात करने के योग्य बन सकोगे। किन्तु, तब तक मेरे मित्र! तुम केवल एक अबोध शिशु ही रहोगे।”

मानव-प्रगति की हमारी योजना

मैं किसी सामयिक जीवन-सुधार का प्रचारक नहीं हूँ। मैं केवल कुछ दोषों को दूर करने का प्रयास भी नहीं कर रहा हूँ। मैं तुमसे कहता हूँ कि आगे बढ़ो और हमारे पूर्व-पुरुष समग्र मानव जाति की उन्नति के लिए जो सर्वांग सुन्दर परिकल्पना दे गए हैं, उसी का अवलम्बन कर, उनके उद्देश्य को सत्य-सृष्टि में परिणत कर दो। मेरा तुम से एक ही अनुरोध है कि मनुष्य जाति के एकत्व और ईश्वरत्व के वेदान्तिक आदर्श के अधिकाधिक समीप पहुँचने के लिए कार्य करो।

हमारे प्राचीन स्मृतिकार भी जाति-भेद का लोप करने वाले थे। किन्तु, वे हमारे आधुनिक सुधारकों के समान नहीं थे। जातिप्रथा तोड़ने से उनका मतलब कदापि यह नहीं था कि शहर के सब लोग एक साथ बैठकर शराब-कबाब उड़ायें, न यह था कि देशभर के सभी मूर्ख और पागल चाहे जब जहाँ, जिसके साथ ब्याह रचा लें और सम्पूर्ण देश को पागलखाने में परिणत कर दें, और न उनका यही विश्वास था कि देश की समृद्धि का मापदण्ड उनकी विधवाओं के पुनर्विवाहों की संख्या पर निर्भर है। इस प्रकार से किसी जाति को उन्नत होते मैंने तो अब तक देखा नहीं।

ब्राह्मणत्व : हिन्दू समाज का आदर्श

ब्राह्मण ही हमारे पूर्व-पुरुषों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों का सात्विक चरित्र उच्च आदर्श माना गया है। यूरोप के बड़े-बड़े धर्माचार्य हैं कि वे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए जी-तोड़ कोशिश करते हैं और सहस्रों रुपये भी खर्च करते हैं। उन्हें तब तक सन्तोष नहीं होता, जब तक वे अपनी वंश-परम्परा का सम्बन्ध किसी ऐसे भयानक अत्याचारी से जोड़ न लें जो किसी पहाड़ी पर रहता हो, वहाँ से राहगीरों को ताका करता हो और मौका पाते ही उन पर झपटकर उनका सब कुछ लूट लेता हो। यह था इन श्रेष्ठ कुलीनता के प्रदाता पूर्वजों का चरित्र। धर्माचार्य तब तक सन्तुष्ट नहीं होते जब तक इनमें से किसी एक से अपना वंशानुक्रम न ढूँढ़ लें। किन्तु ठीक इसके विपरीत, भारत के बड़े-बड़े राजा भी इसी बात का पता लगाने की चेष्टा करते हैं कि हम अमुक कोपीनधारी, सर्वस्व त्यागी, वनवासी, कन्द-मूलाहारी और वेदपाठी ऋषि की सन्तान हैं। इस देश में तुम तभी ऊँची जाति के माने जाओगे जब तुम अपनी वंश-परम्परा किसी पूर्व ऋषि से जोड़ सको, अन्यथा नहीं।

अतएव, उच्च जन्म का हमारा आदर्श अन्य देशों से भिन्न है। आध्यात्मिक साधना-सम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श है। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या अभिप्राय है? आदर्श ब्राह्मण वही है, जिसमें सांसारिकता नाममात्र को न हो तथा सच्चा ज्ञान पूर्ण मात्रा में हो। हिन्दू समाज का यही आदर्श है। क्या आपने नहीं सुना कि शास्त्रों में लिखा है, “ब्राह्मण के लिए कोई नियम-बन्धन नहीं, वे राजा के द्वारा शासित नहीं होते, और उनके शरीर को तनिक भी चोट नहीं पहुँचाई जा सकती।” यह बात बिल्कुल सच है। स्वार्थी एवं अज्ञ लोगों ने इसके जो अर्थ निकाले हैं, उन्हें मत अपनाओ। इससे बचो और मूल वेदान्तिक भाव के प्रकाश में ही समझने का यत्न करो।

राज्यसत्ता का तिरोहण कैसे?

यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे व्यक्ति का बोध होता हो, जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है, जो ज्ञान तथा प्रेम के प्रसार-प्रचार के लिए ही जीवन-धारण करता है- और यदि कोई समाज ऐसे ही ब्राह्मण से, जो आध्यात्मिक एवं सत्यभाव से युक्त हैं, भरा हुआ है, तो क्या उस समाज का समस्त कानूनों से परे एवं ऊपर होना कोई आश्चर्य की बात है? ऐसे लोगों पर शासन करने के लिए पुलिस अथवा सेना की आवश्यकता ही क्या है? आखिर, ऐसे आदमियों पर शासन करने का प्रयोजन भी क्या है? ऐसे लोग किसी शासन-तन्त्र के अधीन ही क्यों रहें? वे लोग साधुस्वभाव एवं महात्मा हैं। वे ईश्वर के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं। और, हमने शास्त्रों में पढ़ा है कि सतयुग में केवल एक ही जाति थी और वह थी ब्राह्मण।

सतयुग में सब ब्राह्मण

महाभारत में बताया गया है कि पुराकाल में सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणों का ही निवास था। क्रमशः ज्यों-ज्यों उनका पतन हुआ, वे विभिन्न वर्णों में विभक्त हो गए -

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत।

ब्राह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

(महाभारत, शान्ति पर्व)

फिर जब युगचक्र घूमता-घूमता सतयुग तक आ पहुँचेगा, तब फिर से सब ब्राह्मण ही हो जायेंगे। वर्तमान युग-चक्र भविष्य में सतयुग आने की सूचना दे रहा है। इसी बात की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। अतएव हमारी जाति-समस्या का हल ऊँची जातियों को नीचे लाने, मनचाहा आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने-अपने वर्णाक्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से नहीं निकलेगा। इसका अन्तिम हल तभी निकलेगा जब हममें से प्रत्येक व्यक्ति वेदान्तिक धर्म के आदर्शों का पालन करेगा, जब हर कोई आध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेगा और हममें से प्रत्येक आदर्श ब्राह्मण बन जायगा।

आदर्श ब्राह्मण बनना है

तुम आर्य हो या अनार्य, ऋषि-सन्तान व ब्राह्मण हो अथवा अत्यन्त नीच जाति के, भारत-भूमि के प्रत्येक पुत्र के लिए उसके पूर्वजों का यही एक आदेश है। तुम सबके प्रति उनका एक ही आदेश है 'चरैवेति, चरैवेति'। इस देश के उच्चतम व्यक्ति से लेकर निम्नतम चाण्डाल को भी आदर्श ब्राह्मण बनने की चेष्टा करना है। वेदान्त का यह आदर्श केवल भारतवर्ष के लिए ही उपयुक्त हो सो बात नहीं, वरन् सम्पूर्ण संसार को इसी आदर्श के अनुसार चलना होगा।

हमारी वर्ण-व्यवस्था का यही आदर्श है। उसका उद्देश्य है कि सम्पूर्ण मानवता को शनैः-शनैः उस आध्यात्मिक पुरुष की ओर बढ़ाया जाये, जो अपरिग्रही, शान्त, धीर, श्रद्धालु, शुद्ध एवं अन्तर्मुखी है। इसी आदर्श में नारायणत्व की स्थिति है।

पश्चिमी साँचे में ढला सुधारक वर्ग

आजकल हमारे बीच कुछ ऐसे भी सुधारक हैं जो हिन्दू राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए हमारे धर्म में सुधार करना चाहते हैं अथवा उसे बिल्कुल उलट डालना चाहते हैं। निस्सन्देह, उनमें कुछ लोग बड़े चिन्तनशील भी हैं, किन्तु अधिकांश अन्धानुयायी हैं

और मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं। उन्हें यह भी पता नहीं कि वे चाहते क्या हैं? सुधारकों का यह वर्ग हमारे धर्म में विदेशी विचारों को समाविष्ट करने में बड़ा उत्साह लेता है। उन्होंने एक शब्द 'मूर्तिपूजा' को पकड़ लिया है और वह यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मूर्तिपूजक होने के कारण हिन्दू-धर्म सच्चा नहीं है। उन्होंने यह पता लगाने का कभी प्रयास नहीं किया कि वह 'मूर्तिपूजा' है क्या वस्तु? यह अच्छी है या बुरी? केवल दूसरों की बुद्धि का अनुकरण कर वे चिल्ला रहे हैं कि हिन्दू धर्म झूठा है।

मूर्तिपूजा को खराब बताने की प्रथा—सी चल पड़ी है और आजकल हर कोई उसे बिना किसी नुक्ताचीनी स्वीकार भी कर लेता है। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था। किन्तु उसके प्रायश्चित स्वरूप मुझे एक ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिसने मूर्तियों के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार किया था। मेरा अभिप्राय श्रीरामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे साधु उत्पन्न हो सकते हैं, तब आप क्या लेना पसन्द करेंगे— इन सुधारकों के थोथे तर्क अथवा अधिक-से-अधिक मूर्तियाँ? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ। यदि तुम मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न कर सकते हो तो और भी सहस्रों मूर्तियों की पूजा करो। ईश्वर तुम्हें इसमें सिद्धि दे। चाहे जिन साधनों से हो, ऐसी महान् आत्माओं की सृष्टि करो।

फिर भी मूर्तिपूजा की निन्दा की जाती है। क्यों? यह कोई नहीं जानता; क्योंकि कुछ सौ वर्ष पूर्व किसी यहूदी रक्त के व्यक्ति ने इसकी निन्दा की थी? अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सब मूर्तियों की निन्दा की थी। उस यहूदी ने कहा, “यदि ईश्वर को किसी सुन्दररूप अथवा प्रतीकात्मक रूप में प्रकाशित किया जाय तो वह बहुत बुरी बात है। यह पाप है। किन्तु यदि वह एक सिंहासन के रूप में हो, जिसके दोनों ओर दो देवदूत बैठें हों और ऊपर एक बादल छाया हो तो यह उसका पवित्रतम प्रतीक है। यदि वह एक पेड़ुकी का रूप लेकर आये, तो वह पवित्र है, किन्तु यदि वह गाय के रूप में आये तो यह विधर्मियों का अन्धविश्वास है और निन्दनीय है।” इस दुनिया की ऐसी ही विचित्र गति है।

अतीत के सच्चे सुधारक

क्या भारतवर्ष में कभी सुधारकों का अभाव रहा है? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे? चैतन्य कौन थे? कबीर कौन थे? दादू कौन थे? ये बड़े-बड़े धर्मोपदेशक, जो भारत के भाग्याकाश में अति उज्ज्वल नक्षत्रों के समान एक-एक कर उदित हुए, कौन थे? क्या रामानुज के अन्तःकरण

में नीच जातियों के लिए प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने जीवनभर चाण्डाल तक को अपने सम्प्रदाय में लाने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या नानक ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को निकट लाकर समाज में नयी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया? उन सबने यह यत्न किया और आज भी उनका कार्य जारी है। अन्तर केवल इतना है कि वे आजकल के समाज-सुधारकों की भाँति दाम्भिक नहीं थे। वे आधुनिक सुधारकों के समान निन्दा नहीं करते फिरते थे, अपितु उनके मुख से सदा आशीर्वाद ही निकलता था।

असीम करुणा और धैर्य से युक्त सुधारक

एक तथ्य तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि संसार के समस्त धर्म-प्रवर्तकों का एक ही ध्येय वाक्य रहा है कि वे विध्वंस के लिए नहीं, निर्माण के लिए आये हैं। कई बार उनकी इस घोषणा को सही अर्थों में नहीं समझा गया और उनकी सहिष्णुता को प्रचलित धारणाओं के साथ अनुचित समझौता माना गया। अब भी, कभी-कभी यह सुनने को मिल जाता है कि मानव जाति के भविष्यद्रष्टा एवं महान आचार्य कायर थे और उनमें वह खुलकर कहने का साहस नहीं था, जिसे वे ठीक समझते थे किन्तु ऐसी बात नहीं है।

वे आधुनिक कट्टरपन्थी, समस्त संसारवासियों को पुत्रवत् माननेवाली इन महान् आत्माओं के अन्तःकरण में विद्यमान प्रेम की असीम शक्ति को आँक ही नहीं सकते। वे सच्चे पिता थे, वास्तविक देवता थे। उनका अन्तःकरण प्रत्येक के लिए असीम सहानुभूति और करुणा से भरा था। वे सबकुछ सहने और क्षमा करने को तैयार थे। वे जानते थे कि मानव समाज को कैसे विकसित होना चाहिए और धैर्यपूर्वक शनैः-शनैः किन्तु निश्चयपूर्वक, वे अपने सुधारों को लागू करते। उन्होंने लोगों की भर्त्सना नहीं की, उन्हें भयभीत नहीं किया, अपितु उन्हें दुलार-पुचकारकर एक-एक पग ऊँचा उठाने का प्रयास किया।

उपनिषदों के रचयिता ऐसे ही थे। वे भली प्रकार जानते थे कि उनके युग की विकसित नैतिक मान्यताओं के साथ ईश्वर की प्राचीन कल्पनाओं की संगति नहीं बैठ पा रही है। वे यह भी भली प्रकार समझते थे कि नास्तिकों के प्रचार में बहुत कुछ सत्यांश है। किन्तु, साथ ही वे यह भी समझते थे कि जो मोतियों को गूँथनेवाले माला के सूत्र को ही तोड़ डालना चाहते हैं, जो केवल हवा में एक नये समाज की रचना का स्वप्न देख रहे हैं, वे पूर्णतः असफल रहेंगे।

हम कभी बिल्कुल नया निर्माण नहीं करते, केवल स्वरूप-परिवर्तन कर देते हैं। हम कोई बिल्कुल नयी चीज नहीं पा सकते, केवल वस्तुएँ अपनी जगह छोड़ जाती हैं।

बीज ही धीरे-धीरे चुपचाप वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। हमें केवल अपनी शक्तियों को सत्योन्मुखी करना चाहिए और पहले से विद्यमान सत्य को पूर्ण बनाना चाहिए, न कि नये सत्यों को गढ़ने की चेष्टा। अतः ईश्वर-सम्बन्धी प्राचीन विचारों को अपने काल के लिए व्यर्थ बताकर उनकी भर्त्सना न करते हुए प्राचीन भारतीय मनीषियों ने उनमें विद्यमान सत्य को उद्घाटित किया। इसका परिणाम निकला वेदान्त दर्शन के रूप में। उन्होंने क्रमशः पुराने अनेक देवताओं के भीतर से, सम्पूर्ण सृष्टि के शासनकर्ता, एक ईश्वर के भीतर से अन्त में एक निराकार परब्रह्म के रूप में उच्चतम विचार को खोज निकाला। उन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही तत्त्व को व्याप्त देखा।

सुधार का अर्थ है पुनरुज्जीवन, न कि विध्वंस

जो सुधारक मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं उनसे मेरा कहना है, “बन्धुओ ! यदि तुम निर्गुण ब्रह्म की किसी बाह्य सहायता के बिना ही उपासना करने में सक्षम हो, तो करो। परन्तु जो ऐसा नहीं कर सकते उनकी निन्दा क्यों करते हो?”

अति प्राचीनकाल का भव्य, सुन्दर एवं विशाल भवन उपेक्षा अथवा अप्रयोग के कारण एक गिरी-पड़ी अवस्था में खड़ा है, उसके अन्दर-बाहर सब ओर गर्द जमी हुई है। यह भी हो सकता है कि उसके कुछ भाग बिल्कुल धराशायी हो गए हों। तुम ऐसे भवन का क्या करोगे? क्या तुम आवश्यक झाड़-पोछ एवं मरम्मत द्वारा उनका पुनर्निर्माण पसन्द करोगे अथवा उस पूरे भवन को ही धरती पर गिराकर उसकी जगह एक नये नमूने का बिल्कुल नया भवन बनवाना पसंद करोगे जबकि अभी इस नमूने के स्थायित्व की परीक्षा होनी शेष है? हमें उसका उद्धार करना है इसका सच्चा अर्थ इतना ही है कि पूरी चीज का विनाश न करके आवश्यक झाड़-पोछ एवं मरम्मत द्वारा उसे प्रयोग के योग्य बनाना। सुधारक का कार्य यहीं समाप्त हो जाता है।

कोई भी सुधारवादी पन्थ, यदि केवल सुधार ही उसका लक्ष्य है तो, सदा सर्वदा जीवित नहीं रह सकता। केवल उसकी मूल प्रेरणा, रचनात्मक तत्त्व या सिद्धान्त ही सदा जीवित रहते हैं। सुधार करते समय उनके भावात्मक पक्ष पर ही आग्रह करना चाहिए और जब भवन निर्माण पूर्ण हो जाय, तब निर्माण कार्य में सहायक अस्थायी ढाँचे को हटा लेना चाहिए।

हम साथ जियेंगे, साथ मरेंगे

किन्तु इसके विपरीत हमारे देश के सुधारक एक नया ही पन्थ खड़ा करना चाहते हैं। उन्होंने कुछ अच्छा कार्य भी किया है, इसके लिए परमात्मा उनका कल्याण करे। किन्तु

तुम हिन्दू होकर भी अपने को पूर्ण समाज से पृथक् करना चाहते हो? तुम 'हिन्दू' नाम लेने में क्यों शरमाते हो जबकि यह तुम्हें सबसे महान एवं गौरवपूर्ण धरोहर मिली है।

हे मेरे देशवासियों! हे अमृतपुत्रों!! तुम्हारा यह राष्ट्रीय जलपोत युगों से सभ्यता को ढो रहा है और अपने अमूल्य रत्नों से सम्पूर्ण विश्व का कोष भरता आ रहा है। सैकड़ों शानदार शताब्दियों से हमारा यह राष्ट्रीय जलयान जीवन-सागर के आर-पार चक्कर लगाता रहा है और अगणित आत्माओं को सांसारिक दुःखों से दूर उस पार ले जा चुका है। किन्तु, आज चाहे तुम्हारी अपनी भूलों से, चाहे किन्हीं अन्य कारणों से वह थोड़ा क्षतिग्रस्त हो गया होगा अथवा उसमें एकाध छेद हो गया होगा। तब तुम, जो इसमें बैठे हुए हो, क्या करोगे? क्या तुम अब केवल इसे कोसते फिरोगे और आपस में झगड़ोगे? क्या तुम सब एकता के सूत्र में गुँथकर इसके छेदों को बन्द करने का यत्न करोगे? आओ, यह करने के लिए हम सब अपना हृदय दें, अपना रक्त दें। और यदि हम अपने प्रयत्नों में असफल रहे तो साथ-साथ डूब जायें और मर जायें, किन्तु अपने ओंठों पर निन्दा के नहीं, आशीर्वचनों के साथ।

बुराई का समूल नाश असम्भव

हमारे समाज में अनेक दोष होंगे, किन्तु प्रत्येक अन्य समाज में भी दोष हैं। यहाँ, यदि कभी धरती विधवाओं के आँसुओं से भीग गई होगी, तो पश्चिम में वायुमण्डल अविवाहित कन्याओं की आहों से भरा रहता है। यदि यहाँ गरिबी जीवन का अभिशाप है, तो वहाँ विलासिता और उन्माद से ही उनके जातीय जीवन को खा रहा है। यहाँ लोग इसलिए आत्महत्या करना चाहते हैं; क्योंकि उन्हें खाने को कुछ नहीं मिलता और वहाँ लोग इसलिए आत्महत्या करते हैं; क्योंकि उन्हें खाते-खाते अजीर्ण हो जाता है।

दोष सब जगह हैं। ये पुराने वातरोग की तरह हैं। इसे पैर से भगाओ तो सिर में पहुँच जायेगा, वहाँ से भगाओ तो कहीं और चला जायेगा। इसको भगाने का अर्थ है, एक जगह से दूसरी जगह इसका पीछा करते रहना, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः, बच्चो ! दोष से पूर्ण मुक्ति पाने का विचार करना सही रास्ता नहीं है। हमारा दर्शन कहता है पाप और पुण्य का सनातन साथ है। वे एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। यदि तुम एक को लोगे तो दूसरे को भी लेना पड़ेगा। समुद्र में एक लहर उठने का अर्थ कहीं दूसरी जगह गड्ढा होना है। नहीं, जीवन के साथ दोष जुड़ा ही है। एक साँस नहीं ली जा सकती बिना किसी की हिंसा किये, भोजन का एक ग्रास नहीं खाया जा सकता बिना किसी को इससे वंचित किये। यही सनातन नियम है, यही दार्शनिक सत्य है।

अतएव, हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि यह भली प्रकार समझ ले कि बुराई के विरुद्ध हमारे संघर्ष का वास्तविक स्वरूप वस्तुनिष्ठ की अपेक्षा आत्मनिष्ठ अधिक है। हम चाहे जितनी बड़ी बातें करें, किन्तु बुराई के विरुद्ध किये गए प्रत्येक कार्य का क्षेत्र बाहर नहीं, अपितु हमारे भीतर ही है। अतः वह शिक्षणात्मक है। यही बुराई को हटाने का वास्तविक अर्थ है। यह विवेक हमारी अशान्ति को दूर कर देगा और हमारे दुराग्रह को भी समाप्त कर देगा।

दुराग्रहपूर्ण सुधारों का परिणाम लक्ष्य-हानि

संसार का इतिहास बताता है कि जहाँ कहीं ऐसे दुराग्रहपूर्ण सुधारों का प्रयास हुआ, उनका एकमेव परिणाम उनके अपने लक्ष्य की हानि में हुआ। अमेरिका में दास-प्रथा को समाप्त करने के लिए जो आन्दोलन हुआ, न्याय और स्वतन्त्रता की स्थापना हेतु उससे भारी आन्दोलन की कल्पना नहीं की जा सकती। आप सब इस बारे में जानते हैं। किन्तु उसके परिणाम क्या निकले? दासप्रथा उन्मूलन के पूर्व दासों की जो दशा थी, आज उससे सौ गुना खराब है।

दासप्रथा-उन्मूलन के पूर्व ये बेचारे नीग्रो लोग किसी न किसी निश्चित व्यक्ति की संपत्ति होते थे। उनकी काफी चिन्ता की जाती थी, ताकि इस सम्पत्ति को कोई हानि न पहुँचे। किन्तु आज वे किसी की भी सम्पत्ति नहीं है। उनके प्राणों का कोई मूल्य नहीं है। जरा-जरा से बहानों को लेकर उन्हें जीवित भून दिया जाता है। उन्हें बिना किसी कारण गोली मार दी जाती है, किन्तु उनके हत्यारों के लिये कोई कानून नहीं है। उन्हें मनुष्य नहीं समझा जाता, यहाँ तक कि पशु भी नहीं माना जाता। वे केवल 'काले आदमी है' यह फल निकला है किसी बुराई को कानून या कट्टरवादिता के साथ समाप्त करने का।

भारत में मूर्तिपूजा का आरम्भ सगुण ईश्वर की कल्पना के विरुद्ध गौतमबुद्ध के सतत प्रहारों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। वेद मूर्तिपूजा से अनभिज्ञ है। किन्तु सृष्टि के नियन्ता एवं पालक के स्थान से ईश्वर को हटाने की प्रतिक्रियास्वरूप महान् आचार्यों एवं धर्म-प्रवर्तकों की मूर्तियाँ बनना आरम्भ हो गई और बुद्ध स्वयं एक भगवान् बन बैठे। आज भी लाखों मनुष्य उनकी इसी रूप में पूजा करते हैं। सुधार के उग्र प्रयास सदैव सच्चे सुधार को पीछे ढकेलने के कारण हैं, यह ऐतिहासिक सत्य है।

जनता में सुधार की चाह कहाँ है?

इसके साथ ही एक अन्य बात भी विचारणीय है। भारत की जनता को विरासत से प्राप्त आन्तरिक ज्योति को प्रकाशित करने का अभी अवसर ही नहीं मिला। पश्चिम विगत

कुछ शताब्दियों से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर तेजी से बढ़ रहा है। भारत में, राजा ही प्रत्येक बात का निर्णय करता था, कुलीनता से लेकर भक्ष्याभक्ष्य निर्णय तक। किन्तु, पाश्चात्य देशों में जनता स्वयं कुछ करती है।

भारतवासियों में आत्मनिर्भरता की भावना तो दूर अभी रंचमात्र आत्मविश्वास भी नहीं है। आत्मविश्वास जो कि वेदान्त का मूलाधार है, अभी तक हमारे व्यवहार में लेशमात्र भी नहीं आया है।

अतएव, समाज-सुधार की सम्पूर्ण समस्या यहाँ आकर केन्द्रित हो जाती है। सुधार चाहने वाले लोग कहाँ हैं ? पहले उनका निर्माण करो। “यदि सिर ही नहीं तो सिरदर्द कहाँ होगा ?” अतः, जनता कहाँ है, इसका विचार करो।

हमारा देश गहन तमस में डूबा

समस्त संसार का भ्रमण कर मैंने अनुभव किया है कि इस देश के लोग अन्य देशों की अपेक्षा गहन तमोगुण में डूबे हुए हैं। ऊपर से सात्त्विक (शान्त और सन्तुलित) अवस्था का मिथ्याभास होता है, किन्तु अन्दर पत्थरों के समान आमूल जड़ता एवं निष्क्रियता व्याप्त है। ऐसे लोग संसार में क्या कार्य कर पायेंगे?

ऐसे निष्क्रिय, आलसी एवं इन्द्रियलोलुप लोग संसार में कितने समय और जीवित रह सकेंगे? पहले पश्चिमी देशों का भ्रमण कीजिए और तब मेरे इन वचनों के खण्डन करने का साहस कीजिए। पाश्चात्य लोगों के जीवन में कितना उद्यम एवं अपने कार्य के प्रति कितना अनुराग है। उनमें कितने उत्साह और रजोगुण की अभिव्यक्ति है। जबकि हमारे देश में लगता है, मानो रक्त हृदय में जम गया है और अब वह नसों में बह ही नहीं सकता; मानों सम्पूर्ण शरीर को लकवा मार गया है और वह जड़वत हो गया है।

तमोगुण के दमन के लिए रजोगुण आवश्यक

भारत में रजोगुण का प्रायः सर्वथा अभाव है, इसी तरह पश्चिम में सत्त्वगुण का अभाव है। अतः, यह निश्चित है कि भारतवर्ष से सत्त्वगुण अथवा आध्यात्मिकता की प्रबल बाढ़ के ऊपर ही पाश्चात्य जगत् का सच्चा जीवन निर्भर करेगा। और निश्चित है कि तमोगुण को रजोगुण के उद्रेक से दबाये बिना हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा। इतना ही नहीं, परलोक से सम्बद्ध हमारी आकांक्षाओं एवं आदर्शों की प्राप्ति के मार्ग में भी अनेक भारी बाधाएँ खड़ी होंगी।

वैराग्य की अपेक्षा अधिक शान्तिदायक और क्या हो सकता है? इसमें सन्देह नहीं

कि अनन्त कल्याण की तुलना में क्षणिक दैहिक सुख का कोई मूल्य नहीं है। सत्त्वगुण (पूर्ण मानसिक निर्मलता) की अपेक्षा और कौन अधिक महाशक्ति दे सकता है? यह सममुच सत्य है कि आत्मविद्या की तुलना में अन्य समस्त विद्याएँ अविद्या मात्र हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ- इस संसार में कितने ऐसे मनुष्य हैं? कितनों में महान शौर्य है कि 'वे' मैं और 'मेरा'—पन की भावना का परित्याग कर सर्वस्वाहुति दे सकें?

कितने ऐसे सौभाग्यशाली हैं जिन्हें ज्ञान की वह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त है जिसके द्वारा ये समस्त सांसारिक सुख तुच्छतम प्रतीत होने लगे? वह विशाल हृदय मनुष्य कहाँ है जो ईश्वर के सौन्दर्य एवं महिमा के ध्यान में निमग्न हो, अपने शरीर को भी भूल जायें? ऐसे लोग सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या की तुलना में केवल मुट्ठीभर होंगे। और क्या केवल इन मुट्ठीभर लोगों को मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए भारत के करोड़ों नर-नारियों को वर्तमान सामाजिक और धार्मिक दुर्दशा के चक्र में पिसने दिया जाये? उसे इस तरह पिस जाने से क्या कल्याण होगा। हम किसी बच्चे को वैराग्य का पाठ नहीं सिखा सकते। बच्चे जन्मजात आशावादी होता है। इन्द्रियों में ही उसकी सम्पूर्ण चेतना रहती है। उसका सम्पूर्ण जीवन ही मानों विषयों के आनन्द का पुञ्ज होता है। इसी प्रकार, प्रत्येक समाज में कुछ लोग बच्चों के समान होते हैं। उन्हें सांसारिक विषयों की निस्सारता को समझने के लिए पहले कुछ आनन्द एवं अनुभव अवश्य मिलना चाहिए और तब वैराग्य उनमें स्वयमेव ही आ जायेगा। हमारे शास्त्रों में उनके लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई थी, किन्तु दुर्भाग्य से परवर्ती कालों में प्रत्येक व्यक्ति को उन्हीं नियमों में बाँधने की प्रवृत्ति चल पड़ी जो संन्यासियों के लिये बनाये गए थे, यह एक भारी भूल हुई। यदि ऐसा न किया गया होता तो भारत में आज जो दुःख-दारिद्र्य दिखायी देता है, उसका बहुतांश नहीं दीखता।

‘तमस’ हमारे पतन का कारण

क्या तुम नहीं देखते कि इस सत्त्वगुण की आड़ में देश धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है? जहाँ महाजड़ बुद्धि लोग समस्त कर्मों से अतीत पराविद्या के प्रति झूठा अनुराग प्रदर्शित कर अपनी मूढ़ता को छिपाना चाहते हैं, जहाँ जन्मभर आलसी अपनी अकर्मण्यता पर वैराग्य का आवरण डालना चाहता है; जहाँ क्रूरकर्मों लोग अपनी क्रूरता को तपस्या के चोले में छिपाकर धर्म का अंग बता रहे हैं, जहाँ अपनी दुर्बलताओं पर किसी की दृष्टि नहीं है, सब कोई सम्पूर्ण दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने को तैयार है; जहाँ दूसरों के विचारों की जूठन को खा लेने को ही ज्ञान समझा जाता है; और जहाँ पूर्वजों के गौरव सुनाने में ही अपनी महत्ता समझी जाती है। क्या इसके अतिरिक्त और कोई

प्रमाण चाहिए, यह सिद्ध करने के लिए कि यह देश दिनोंदिन तमोगुण के गहन गर्त में गिरता जा रहा है?

अतएव, पूर्ण शुद्धता अथवा सत्त्वगुण अब भी हमसे बहुत दूर है। हम में से जो लोग अभी उसके योग्य नहीं हुए हैं, किन्तु जो उस परमहंस की स्थिति के निकट पहुँचने की आशा-आकांक्षा रखते हैं उनके लिए अभी घोर क्रियाशीलता अथवा रजोगुण की स्थिति को प्राप्त करना ही लाभदायक रहेगा। रजोगुण की स्थिति से गुजरे बिना क्या कोई व्यक्ति पूर्ण सात्त्विक अवस्था को कभी पा सकेगा? हम ईश्वर-साक्षात्कार अथवा योग की आशा कैसे कर सकते हैं जब तक कि हमने भोग एवं सुख की अपनी तृष्णा को शान्त न कर लिया हो? जब तक इन सांसारिक सुखों के प्रति विराग उत्पन्न नहीं हुआ है, तब तक त्याग-भाव कहाँ से आ सकता है?

व्यक्तित्व का विस्मरण

गत शताब्दी में समाज-सुधार के जितने आन्दोलन हुए वे केवल ऊपरी दिखावा थे। इन सब सुधारों का सम्बन्ध केवल प्रथम दो वर्णों से था, अन्यो से नहीं। विधवा-विवाह की समस्या का सम्बन्ध भारत की ७० प्रतिशत नारियों से नहीं है और ऐसे सब प्रश्न भारत के उच्च वर्णों के ही हैं, जो जनसाधारण को वञ्चित कर स्वयं शिक्षित हुए हैं। प्रत्येक प्रयत्न उनके घरों की सफाई के लिए ही हुआ। किन्तु, यह सच्चा सुधार नहीं है। सुधार करने के लिए हमें समस्या की तह में घुसना पड़ेगा, चीजों की जड़ तक पहुँचना होगा। इसी को मैं आमूल सुधार कहता हूँ। जड़ में अग्नि रख दो और उसे क्रमशः ऊपर की ओर उठने दो तथा भारतीय राष्ट्र का रूप निखरने दो।

धर्म को दोष देने से कोई लाभ नहीं। एक मूर्ति के रहने न रहने से बहुत बड़ा फर्क नहीं पड़ता। दोष की पूरी जड़ यहाँ है? “सच्चा राष्ट्र जो झोपड़ियों में रहता है अपनी मानवता को भूल चुका है, अपने व्यक्तित्व का विस्मरण कर चुका है, उसे पुनः शिक्षित करना है।”

आत्म-विस्मृति को दूर करना होगा

उन्हें विचार देने होंगे। उनकी आँखें खोलनी होंगी और उन्हें दिखाना होगा कि उनके चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा है। तब वे अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं खोज लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक नर एवं नारी को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं निर्माण करना होगा। उन्हें विचार दो-केवल इतनी ही सहायता वे तुमसे चाहते हैं, शेष सब स्वयं पूर्ण हो जायेगा। हमारा कार्य केवल विभिन्न रसायनों को एकत्र करना है। अपेक्षित परिणाम निकलना

प्रकृति के नियमों के अधीन है। हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम उनके मस्तिष्कों में विचार भर दें, शेष कार्य वे स्वयं करेंगे। भारत में यही कार्य करना होगा।

तुम्हारा ध्येयवाक्य केवल यह रहे, “बिना उनके धर्म पर आघात पहुँचाये जनसमूह को ऊपर उठाना है।”

शिक्षा का प्रसार ही एकमेव हल

जिस दिन से यूरोप में शिक्षा और संस्कृति आदि का प्रवाह उच्च वर्गों से जनसाधारण की ओर बढ़ा, उसी दिन से पश्चिम की वर्तमान सभ्यता और भारत, मिस्र, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताओं में अन्तर प्रारम्भ हो गया।

मैं अपनी आँखों से देख रहा हूँ कि प्रत्येक राष्ट्र अपने जनसाधारण में शिक्षा और बुद्धिमत्ता की वृद्धि के अनुपात में ही प्रगति कर रहा है। भारत के पतन का भी मुख्य कारण सम्पूर्ण शिक्षा और बुद्धिमत्ता पर मुठ्ठीभर अहंमन्य और राज्याश्रय प्राप्त व्यक्तियों का एकाधिकार रहा है। यदि हमें उत्थान करना है तो हमें भी वही करना होगा अर्थात् शिक्षा को जनसाधारण में फैलाना होगा।

शिक्षा से आत्मविश्वास

मुसलमानों के साथ कितने सिपाही आये थे? कितने अंग्रेज आज यहाँ हैं? भारत के अतिरिक्त और कहाँ ऐसे करोड़ों लोग मिल सकते हैं जो केवल छः रुपयों के लिए अपने सगे पिता तथा भाइयों का गला काट डालें? सात सौ वर्ष के मुस्लिम शासनकाल में छः करोड़ मुसलमान और केवल सौ वर्ष के ईसाई शासन में बीस लाख ईसाई कैसे तैयार हो गए? मौलिकता ने इस देश को सर्वथा परित्याग क्यों कर दिया है? हमारे कलाकुशल शिल्पी, यूरोपियनों के सम्मुख प्रतियोगिता में न टिक पाकर दिनोंदिन क्यों समाप्त होते जा रहे हैं? कौन-सी शक्ति है जिसके द्वारा जर्मन मज़दूर, अंग्रेज मज़दूर की कई शताब्दियों से गहरी जमी हुई जड़ों को हिलाने में समर्थ हो सका?

शिक्षा, शिक्षा, केवल शिक्षा चाहिए। यूरोप के अनेक नगरों में भ्रमण करते समय जब मैंने वहाँ दरिद्र लोगों के भी आराम और शिक्षा को देखा तो मेरी आँखों के समक्ष हमारे दरिद्र लोगों का चित्र आ जाता था और मैं आँसू बहाने लगता था। यह अन्तर कैसे पड़ा? मुझे एक ही उत्तर सूझा—शिक्षा के द्वारा। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति में आत्मविश्वास जगता है।

यदि तुम्हारे सभी तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन समस्त देवताओं

में, जिन्हें बीच-बीच में विदेशियों ने हमारे अन्दर प्रविष्ट कराया, खूब विश्वास हो, किन्तु अपने पर तनिक भी विश्वास न हो, तो तुम्हारी मुक्ति सम्भव नहीं। अपने पर विश्वास रखो, उस विश्वास के सहारे खड़े हो और बलवान बनो। आज हमारे लिए इसी की आवश्यकता है।

मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि जल्दी ही हमारे देश में क्रियाशीलता और आत्मनिर्भरता की लहर अवश्य आयेगी। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं। ज्ञानी मनुष्य भावी तीन युगों तक दृश्य साफ देख सकता है। श्रीरामकृष्णदेव के आविर्भाव के समय से प्राची का क्षितिज सूर्य की प्रातःकालीन किरणों से उद्भासित होने लगा है और शीघ्र ही सम्पूर्ण देश मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर तेज से दैदीप्यमान हो उठेगा, इसमें सन्देह नहीं।



पुनरुद्धार कार्य में रत कार्यकर्त्ताओं से

भारत फिर उठेगा, किन्तु केवल शारीरिक शक्ति से नहीं, अपितु आत्मा के बल से; विध्वंस की पताका के नीचे नहीं, शान्ति और स्नेह के उस ध्वज को लेकर जो संन्यासी के वेष का प्रतीक है।

अपने आन्तरिक देवत्व का आह्वान करो, जो तुम्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सहने की शक्ति प्रदान करेगा। भोगविलासयुक्त घरों में रहना, जीवन के समस्त सुखों से घिरे रहना और एक तुच्छ अविकसित धर्म को पकड़े रहना अन्य देशों के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु भारत के पास सभी चेतना है। यह सहज बुद्धि से ही ढोंग को पहचान लेता है। तुम्हें इसे त्यागना होगा। महान बनो। त्याग के बिना कोई भी महान कार्य होना सम्भव नहीं।

अपने सुखों की, आनन्दों की, अपने यश की, प्रतिष्ठा की, यहाँ तक कि अपने प्राणों की भी आहुति चढ़ा दो और मानव आत्माओं का ऐसा सेतु बाँध दो, जिस पर होकर ये करोड़ों नर-नारी भवसागर को पार कर जाये। 'सत्य' की समस्त कठिनाइयों को एकत्र करो। यह चिन्ता मत करो कि तुम किस पताका के नीचे चल रहे हो। यह भी चिन्ता मत करो कि तुम्हारा वर्ण क्या है— लाल, हरा या नीला; बल्कि सब वर्णों को मिला दो और स्नेह के प्रतीक श्वेत रंग का प्रखर तेज उत्पन्न करो। हम केवल कर्म करें। परिणाम अपनी चिन्ता स्वयं करेंगे।

मैं भविष्यद्रष्टा नहीं हूँ; न मैं उसके लिए चिन्तित हूँ। किन्तु, एक दृश्य मेरे सामने बिल्कुल स्पष्ट है कि हमारी प्राचीन मातृभूमि एक बार पुनः जाग उठी है। वह नवयौवन प्राप्त कर पहले से कहीं अधिक भव्य दीप्ति के साथ अपने सिंहासन पर बैठी हुई है। समस्त संसार को शान्तिपूर्ण और मंगलमय वाणी से उसका सन्देश सुनाओ।

सच्चे सुधारक के तीन अनिवार्य लक्षण

यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो तो तुम में तीन बातें अवश्य होनी चाहिए। उनमें प्रथम है 'सहानुभूति'।

प्रथम हृदय से अनुभव करो

सर्वप्रथम, हृदय से अनुभव करो। तर्क या बुद्धि में क्या धरा है? यह कुछ दूर तक जाती है और वहीं रुक जाती है, किन्तु हृदय के द्वारा प्रेरणा मिलती है। हृदय का ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय के द्वारा ही भगवान का साक्षात्कार होता है, न कि बुद्धि के द्वारा। बुद्धि तो सिर्फ सड़क की सफाई करने वाले के समान है। यह हमारा रास्ता साफ करती है। पुलिस मैन के समान उसका गौण स्थान है। वह समाज के कार्य संचालन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। पुलिस मैन का कार्य केवल उपद्रवों को रोकना और नियमोल्लंघन के प्रयासों का दमन करना मात्र है। और हम इतने ही कार्य की अपेक्षा बुद्धि से भी कर सकते हैं। बुद्धि अन्धी होती है, वह स्वयं चल नहीं सकती। उसके न हाथ होते हैं, न पैर। वस्तुतः भावना ही कार्य करती है। वह विद्युत या किसी भी अन्य चीज की अपेक्षा असंख्य गुना तेज गति से चलती है। अतः 'तुम अनुभव करते हो या नहीं?'—यही मुख्य प्रश्न है।

बुद्धि भी आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना हम गड्ढे में गिर जायेंगे और भारी गलतियाँ कर बैठेंगे। बुद्धि उनसे बचाती है, किन्तु उससे आगे बढ़कर वह अपने आधार पर कोई चीज खड़ा नहीं कर सकती। उससे केवल क्रियाहीन और गौण सहायता मिल सकती है। वास्तविक सहायता तो भावना या प्रेम से ही मिलती है।

प्रेम से असम्भव भी सम्भव

प्रेम असम्भव को सम्भव कर देता है। जगत् के सब रहस्यों का द्वार प्रेम ही है। अतः मेरे भावी सुधारकों, मेरे भावी देशभक्तों, हृदय से अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? देव और ऋषियों के करोड़ों वंशज पशुतुल्य बन गए हैं। क्या तुम अनुभव करते हो कि करोड़ों देशवासी आज भूखों मर रहे हैं और करोड़ों युगों से भूखे मरते आ रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि देश पर अज्ञान के काले बादल छाये हुए हैं? क्या इन सबने तुम्हें बेचैन कर दिया है? क्या इसने तुम्हारी आँखों से नींद छीन ली है? क्या यह वेदना तुम्हारे रक्त में मिलकर तुम्हारी धमनियों में पहुँच गई है, तुम्हारी हृदय की धड़कन के साथ एकरूप हो चुकी है? क्या इसने तुम्हें लगभग विक्षिप्त कर डाला है? क्या सर्वनाश की इस व्यथा ने तुम्हें पूरी तरह झकझोर

डाला है? क्या तुम अपने नाम, अपने यश, अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपनी धन-सम्पत्ति यहाँ तक कि अपने शरीर को भुला चुके हो?

गहरी सहानुभूति ही प्रमुख आवश्यकता

गरीबी और अज्ञान में सदा से डूबे हुए उन बीस करोड़ नर-नारियों की वेदना को अनुभव ही कौन करता है? वे यह भी भूल गए हैं कि वे मनुष्य हैं और उसी का परिणाम है गुलामी। कुछ विचारशील लोगों ने विगत कुछ वर्षों में इस बात को समझ लिया है, किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने उसका दोष हिन्दू धर्म के मत्थे मढ़ दिया है। उनकी दृष्टि में इस स्थिति को सुधारने का एक ही मार्ग है कि संसार के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म को कुचल डाला जाये। मेरे मित्रो, मेरी बात सुनो। ईश्वर की कृपा से मुझे इसका रहस्य पता चल गया है। धर्म इसके लिए बिल्कुल दोषी नहीं है।

इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तुम्हें बतलाता है कि सब ओर तुम्हारी आत्मा का ही विस्तार हो रहा है, किन्तु इस तत्व के व्यावहारिक प्रयोग की कमी है। सहानुभूति का अभाव है, हृदय का नहीं। भगवान एक बार पुनः बुद्ध का रूप धारण कर आये और उन्होंने सिखाया कि सहानुभूति क्या होती है; दरिद्र, दुःखी और पापी के प्रति करुणा क्या होती है? किन्तु तुमने उनकी बात भी नहीं सुनी।

संसार का कोई धर्म हिन्दू धर्म के समान मनुष्य की महानता का इतने ऊँचे शब्दों में प्रतिपादन नहीं करता। किन्तु संसार में कोई धर्म नहीं है जो गरीबों और दुःखियों की गर्दनों को इतनी बुरी तरह कुचलता भी हो जितना कि हिन्दू धर्म। परमात्मा ने मुझे दिखा दिया है कि धर्म का कोई दोष नहीं है। किन्तु ये हिन्दू धर्म के ठेकेदार और पुरोहित हैं, जो परमार्थिक और व्यावहारिकता के सिद्धान्तों की आड़ में अत्याचार के नये-नये उपायों का आविष्कार करते हैं।

चिकित्सक की भावना से सेवा करो

हताश न होना; याद रखना कि भगवान गीता में कह गये हैं -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

(गीता २,७)

कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। कमर कसो। प्रभु ने मुझे इसी कार्य के लिये बुलाया है। सम्पूर्ण जीवन मुझे आपदाओं और कष्टों के मध्य से गुजरना पड़ा है। मैंने प्राणप्रिय आत्मीयों को लगभग निराहार मरते देखा

है। मेरा उपहास उड़ाया गया है, मुझ पर अविश्वास किया गया है और जिन्होंने मेरा हँसी-मजाक बनाया, उन्हीं के प्रति सहानुभूति रखने का दण्ड मुझे भोगना पड़ा है। मित्रो, यह वही महाकष्टों का आगार पुरुषों और धर्मप्रवर्तकों के लिए शिक्षालय स्वरूप है, जिसमें सहानुभूति, सहिष्णुता और इस सबसे बढ़कर उस अदम्य दृढ़ इच्छाशक्ति का विकास होता है, जिसके बल पर मनुष्य, सारा जगत चूर-चूर हो जाने पर भी अपने स्थान से विचलित नहीं होता।

मुझे इन उपहास करने वालों पर दया आती है, किन्तु यह उनका दोष नहीं है। वे अभी बच्चे हैं, निरे बच्चे-यद्यपि समाज में वे बड़े गणमान्य समझे जाते हैं। उनकी आँखें अपने तुच्छ स्वार्थों के संकुचित घेरे से परे कुछ देख ही नहीं पातीं। खाना-पीना, पैसा कमाना और सन्तान उत्पन्न करना; यही उनके नियमित कार्य हैं, जो घड़ी की सुई के समान वे नियमित रूप से पूरे करते रहते हैं। ये बेचारे अल्पसन्तोषी तुच्छ जीव इसके सिवाय और कुछ देख ही नहीं पाते। उनकी नींद कभी टूटती ही नहीं।

सैकड़ों शताब्दियों के दमन के फलस्वरूप भारतीय वायुमण्डल में व्याप्त दुःख, दारिद्र्य और पतन की कातर कराहें उन्हें झकझोर न पाई और उनके जीवन को कल्पना-लोक से बाहर लाने में भी समर्थ न हो सकीं। उन्होंने कभी उन युगों में झाँका ही नहीं जिनके मानसिक, नैतिक और शारीरिक अत्याचारों ने ईश्वर की प्रतिमा रूपी मनुष्य को भारवाहक पशु बना डाला है; जिन्होंने माँ भगवती की प्रतिमारूपिणी नारी को केवलमात्र बच्चे पैदा करने वाली दासी में बदल डाला है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन को ही अभिशाप बना डाला है।

क्या तुम इस निश्चेतन जनसमूह में, जिसकी समस्त नैतिक आकांक्षाएँ मर चुकी हैं; जिसके समस्त भावी स्वप्न मिट चुके हैं और जो अपना भला चाहने वालों पर भी हमला करने को सदैव तैयार है-प्राण फूँक सकोगे? क्या तुम उस डाक्टर की स्थिति में रह सकोगे जो एक ठोकर मारने वाले और गाली देने वाले बच्चे के गले में भी दवा उतारने के लिए प्रयत्नशील हो?

जापान में मैंने सुना कि वहाँ की लड़कियों का यह विश्वास है कि यदि गुड़ियों को भी पूरे हृदय से प्रेम किया जाय तो उनमें भी प्राण आ जाते हैं। इसलिए जापानी लड़कियाँ कभी अपनी गुड़ियों को नहीं तोड़तीं। महाभाग्यवानो ! मेरा भी यही विश्वास है कि यदि कोई भारत की जनता का जो समृद्धि की कृपा से वंचित तथा ऐश्वर्य से हीन है; जिनका विवेक भ्रष्ट हो चुका है; जिसकी स्वयं प्रेरणा नष्ट हो चुकी है; जो पददलित, भूखी, झगड़ालू और ईर्ष्यालु है- उस जनता को हृदय से स्नेह करेगा तो यह देश पुनः उठ खड़ा

होगा। भारत दोबारा तभी उठ सकेगा जब सैकड़ों विशाल हृदय युवक-युवतियाँ सुखोपभोग की समस्त कामनाओं को तिलांजलि दे अपने करोड़ों देशवासियों के, जो धीरे-धीरे दरिद्रता और अज्ञान के गहन गर्त में गिरते जा रहे हैं, कल्याण के हेतु अपनी पूरी शक्तियाँ लगाने का संकल्प लेंगे।

क्या तुमने उपाय खोजा?

क्या तुम सहानुभूति के भाव से भरे हो? यदि हो तो यह केवल प्रथम पग है। अगला प्रश्न है कि क्या तुम्हें रोग की कोई औषधि भी मिल गई है? पुराने विचारों को तुम अन्धविश्वास भले ही समझो, किन्तु अन्धविश्वासों के इसी ढेर में सत्य के स्वर्ण-कण भी छिपे हैं। क्या तुमने ऐसा कोई उपाय सोचा है जिसके द्वारा निस्सार-तत्त्व को त्यागकर इन स्वर्णकणों की रक्षा की जा सके?

शुद्ध एवं अदम्य इच्छाशक्ति हेतु

अपनी शक्तियों के केवल निरर्थक चर्चा में खर्च करने के बजाय क्या तुमने कोई मार्ग अथवा व्यावहारिक हल खोजा? निन्दा के बदले सहायता को कोई कार्य ढूँढ़ा? उनकी पीड़ा में सहलाने के लिए उन्हें इस जीवित नरक से बाहर निकालने के लिए कुछ मधुर शब्द अपनाये?

यदि तुमने यह सब कर लिया तो यह केवल दूसरा पग होगा। इसके अतिरिक्त एक और बात भी आवश्यक है तुम्हारी कर्म-प्रेरणा का मूल क्या है? क्या तुम्हें पूर्ण निश्चय है कि तुम्हारी प्रेरणा का मूल धन-लोलुपता या प्रसिद्धि और सत्ता-लोलुपता नहीं है?

केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। क्या तुममें हिमालय जैसी बाधाओं को पार करने वाली दृढ़ इच्छाशक्ति है? यदि सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे विरुद्ध तलवार लेकर खड़ा हो जाय तब भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र ही तुम्हारे प्रतिकूल हो जायें, यदि तुम्हारा सर्वस्व चला जाय, यदि तुम्हारा नाम मिट जाय, तब भी क्या तुम इस कार्य में लगे रहोगे? फिर भी क्या तुम अपने पथ पर डटे रहोगे, अपने लक्ष्य की ओर धीरतापूर्वक बढ़ते रहोगे? और जैसा कि राजा भर्तृहरि ने कहा है?

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तर वा।

न्याय्यात्पथः प्रतिचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरि नीतिशतक)

“मनीषी लोग चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी रहे या चली जाय, आज ही मृत्यु हो या सौ वर्ष पश्चात्, किन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।” क्या तुममें यह दृढ़ता है?

ध्येय के प्रति पूर्ण समर्पण का संकल्प करो

यदि तुम में ये तीनों चीजें हैं तो तुममें से प्रत्येक अलौकिक कार्य कर सकता है। फिर तुम्हें समाचार पत्रों में लिखने की आवश्यकता नहीं, तुमको व्याख्यान देते फिरने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे चेहरे पर एक अपूर्व आभा विराजेगी। यदि तुम पर्वत कन्दराओं में रहो, तब भी तुम्हारे विचार पर्वत की चट्टानों को तोड़कर बाहर निकलेंगे और सैकड़ों वर्ष तक समग्र संसार में भ्रमण करते रहेंगे—तब तक, जब तक वे किसी मस्तिष्क में आश्रय न पा लें और उसके द्वारा कार्यान्वित न हो जायें। यह है सामर्थ्य विचारशक्ति, प्रामाणिकता और शुद्ध ध्येयवादिता का!

यह एक दिन का कार्य नहीं है। यह मार्ग अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों से भरा है। किन्तु स्वयं पार्थसारथि (कृष्ण) हमारे सारथि बनने को तैयार हैं। हम जानते हैं कि उनमें अटल श्रद्धा के सहारे हम भारत की छाती पर युगों से एकत्र आपदाओं के पहाड़ में आग लगाने में समर्थ होंगे और वह भस्मीभूत होकर रहेगा।

पार्थसारथि के मन्दिर में जाओ। उसके सम्मुख मस्तक नवाओं जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों का सखा था, जो गुह व चाण्डाल का आलिङ्गन करने में भी कभी नहीं झिझका, जिसने अपने बुद्धावतार में कुलीनों का निमन्त्रण ठुकराकर एक वेश्या का निमन्त्रण स्वीकार किया और उस पतिता का उद्धार किया। अरे! अपने मस्तकों को उसके सामने झुकाओ और बड़ा बलिदान करो। अपना सम्पूर्ण जीवन उनके लिए बलिदान कर दो जिनके लिए ही वह समय-समय पर अवतार धारण करता है; जिन गरीबों, दलितों, हीनों को वह सबसे अधिक प्यार करता है। तब, संकल्प करो अपने सम्पूर्ण जीवन को इन तीस कोटि भारतवासियों के पुनरुद्धार के महायज्ञ में आहूत करने का जो दिनोदिन पतन के गर्त में जा रहे हैं।

श्रद्धा

अतः, बन्धुओ ! आओ और इस समस्या की ओर निहारो। यह कितना बड़ा प्रयास होगा और हम उसकी तुलना में कितने तुच्छ! किन्तु हम प्रकाश के पुत्र हैं और ईश्वर की सन्तान। ईश्वर की कृपा से हम अवश्य सफल होंगे। इस संघर्ष में सैकड़ों धराशायी होंगे, किन्तु सैकड़ों ही उनकी जगह लेने को तैयार भी रहेंगे। मैं यहाँ भले ही असफल रहकर

मर जाऊँ, किन्तु कोई दूसरा मेरा कार्य पूरा करेगा। तुम बीमारी जान चुके हो, तुम उसका इलाज भी जानते हो। केवल आत्मविश्वास रखो। इन तथाकथित अमीरों और प्रतिष्ठितों की ओर मत निहारो, इन हृदयहीन बुद्धिवादी लेखकों की चिन्ता मत करो, न उनके द्वारा अखबारों में प्रकाशित हृदयशून्य लेखों की परवाह करो। आत्मविश्वास और सहानुभूति! प्रबल आत्मविश्वास एवं तीव्र सहानुभूति!! यही तुम्हारा एकमात्र सम्बल है। विश्वास! विश्वास!! विश्वास!!! अपने में विश्वास, ईश्वर में विश्वास-बस यही महानता का मूल मन्त्र है।

नचिकेता की श्रद्धा तुममें प्रविष्ट हो

जिसको स्वयं पर विश्वास नहीं, वही नास्तिक है। तुममें से जिन लोगों ने समस्त उपनिषदों में अति सुन्दर कठोपनिषद् का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा कि किस प्रकार उस राजा ने एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान किया था, किन्तु दक्षिणा में छोट-छोटकर वह ऐसी बूढ़ी गायों एवं घोड़ों को दे रहा था जो किसी काम के नहीं रह गए थे। (कथा के अनुसार उसके पुत्र नचिकेता को पिता का यह कृत्य नहीं रुचा उसने पिता से पूछा “आप मुझे किसे देंगे?” बार-बार ऐसा पूछने पर पिता ने झुँझलाकर उत्तर दिया; “मैं तुझे यम को दूँगा।” -सं.) उक्त ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि उस समय श्रद्धा ने उसके पुत्र नचिकेता के अन्तःकरण में प्रवेश किया। अब हम देखें कि उसने (श्रद्धा ने) किस प्रकार कार्य किया, क्योंकि उसके प्रवेश के दूसरे ही क्षण हम नचिकेता को स्वयं से यह कहते हुए सुनते हैं -

**बहुतनामेमि प्रथमो बहुनामेमि मध्यमः।
किं खिद्यमस्य कर्तव्यं मन्मयाद्य करिष्यति॥**

(कठ उपनिषद् १.१.५)

“मैं अनेकों से श्रेष्ठ हूँ, थोड़े मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, किन्तु मैं किसी भी प्रकार सबसे हीन नहीं हूँ। अतः मैं कुछ-न-कुछ कर सकता हूँ।”

उसका यह आत्मविश्वास बढ़ता गया और जो समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा। वह समस्या थी मृत्यु की। इस समस्या का हल केवल मृत्यु के घर जाकर ही प्राप्त हो सकता था, अतः, वह बालक वहीं गया। वहाँ उस निर्भीक बालक नचिकेता ने मृत्यु के द्वार पर तीन दिन प्रतीक्षा की और तुम जानते ही हो किस प्रकार उसने अपनी अभीप्सित वस्तु प्राप्त की।

इसी श्रद्धा को तुम सब प्राप्त कर लो। पश्चिमी जातियों के द्वारा भौतिक सत्ता का जो कुछ प्रकटीकरण तुम्हें दिखायी दे रहा है, वह इस श्रद्धा का ही परिणाम है; क्योंकि उन्हें अपनी कर्मशक्ति पर विश्वास है। फिर, यदि तुम भी अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर आस्था रखो तो उससे भी कितना ही अधिक कार्य कर सकते हो!

यही श्रद्धा है जो मैं चाहता हूँ और हम सब उसी के अर्थात् आत्मविश्वास के भूखे हैं। उस श्रद्धा को प्राप्त करना ही तुम्हारे सामने बड़ा कार्य है। प्रत्येक चीज का उपहास उड़ाने की, गम्भीरता के भारी अभाव की इस भयानक बीमारी के चंगुल से बचो जो हमारे राष्ट्रीय शोणित में घुसती जा रही है। इसको त्याग दो। वीर बनो, श्रद्धा सम्पन्न बनो। अन्य सब बातें इनके पीछे-पीछे अपने आप चली आयेंगी।

वैराग्य परम आवश्यक गुण

काम में लग जाओ। तब तुम अपने अन्दर इतनी प्रचण्ड शक्ति का जागरण पाओगे कि उसे धारण करना भी तुम्हें कठिन जान पड़ेगा। अन्यो के लिए किए गए अत्यल्प कार्य से भी आन्तरिक शक्तियों का जागरण होता है। यहाँ तक कि अन्यो के प्रति शुभ चिन्तन से भी शनैः-शनैः हृदय में सिंह की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

आवश्यक वस्तु है वैराग्य। वैराग्य के बिना कोई भी अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण को परोपकार में नहीं उड़ेल सकता। विरागी मनुष्य ही सबको समान दृष्टि से देखता है और सबकी सेवा में अपने को लगा सकता है।

सेवा से ही मुक्ति

अतः, वैराग्य धारण करो। तुम्हारे पूर्वजों ने महान् कार्य करने के लिए संसार को त्याग दिया था। वर्तमानकाल में भी ऐसे लोग हैं जो अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए संसार से विरक्त हो जाते हैं। सब बातों को त्याग दो, यहाँ तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी त्याग दो और दूसरों की सहायता करो।

कुछ समय के लिए अन्य सब देवताओं को अपनी दृष्टि से ओझल कर दो। बस यही एक देवता, हमारा अपना समाज, अहर्निश हमारी आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष है। सर्वत्र उसके हाथ है, सर्वत्र उसके पैर और सब ओर उसके कान। वह सब ओर व्याप्त है। समझ लो कि अन्य सब देवता सो रहे हैं। उन व्यर्थ देवताओं के पीछे तो हम दौड़े, किन्तु इस देवता की, इस विराट् पुरुष की, जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, क्यों, न पूजा करें? जब हम इसकी पूजा कर लेंगे तभी हम अन्य देवताओं की पूजा करने के योग्य होंगे।

मुक्त वही है जिसने अपना सब कुछ दूसरों के लिए त्याग दिया। किन्तु, जो दिन-रात 'मेरी मुक्ति', 'मेरी मुक्ति' का राग अलापने में ही अपने मस्तिष्क को खराब करते हैं वे अपने वर्तमान और भावी कल्याण का नाश कर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकते रहते हैं।

आज आवश्यकता है चित्तशुद्धि की, अन्तःकरण की निर्मलता की। किन्तु, वह कैसे हो? सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो जो हमारे चारों ओर विद्यमान है। उसकी पूजा करो। ये सब हमारे देवता हैं- केवल मनुष्य ही नहीं; पशु भी। इनमें भी सबसे पहले पूजा करो अपने देशवासियों की।

हमें चाहिए त्यागी और समाजसेवी लोग

भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं- सेवा और त्याग। इन्हीं मार्गों से उनकी भावनाओं को तीव्र करो, शेष सब अपने आप ठीक हो जायेगा। इस देश में आध्यात्मिकता का माहात्म्य चाहे जितना गाओ, वह कम ही है। इसी में मुक्ति निहित है।

मैं चाहता हूँ लौह पेशियाँ और इस्पात के स्नायु जिनके भीतर उसी धातु का बना मानस रहता है, जो वज्र के समान दृढ़ हो। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य-ब्रह्मतेज। हमारे सुन्दर एवं होनहार युवकों के पास ये सब चीजें हैं- यदि केवल उन्हें उस क्रूरता की वेदी पर जिसे वे विवाह कहते हैं-बलि न किया जाये। हे भगवान! मेरी पुकार सुनो!

कुछ को इससे (विवाह से) बचा रहने दो। उन्हें केवल ईश्वर के लिए जीने दो, ताकि वे दुनिया के लिए धर्म की रक्षा कर सकें। राजा जनक के जैसा होने का ढोंग मत करो जब तक तुम केवल सपनों के जनक हो। (जनक शब्द का अर्थ है 'निर्माता' और यह नाम एक राजा का था, जिसने केवल प्रजापालन के हेतु राजपद ग्रहण किया था और सब आसक्तियों को त्याग दिया था।) ईमानदार बनो और कहो, "मुझे आदर्श दिखाई तो पड़ता है, किन्तु अभी मैं इसके निकट नहीं पहुँच सकता।" यदि तुम विरागी नहीं हो, तो उसका दिखावा मत करो। यदि तुमने वैराग्य धारण किया है तो दृढ़तापूर्वक डटे रहो। यदि लड़ाई में सैकड़ों गिर चुके हों, तो भी पताका को थाम लो और उसे लेकर आगे बढ़ो। ईश्वर सबका साक्षी है। चिन्ता मत करो कि कौन गिरता है। जो गिरने लगे वह पताका को केवल दूसरे हाथों में थमा दे, तब यह कभी नहीं गिर पायेगी।

एक लाख नर और नारी-पवित्रता की अग्नि में तपे हुए भगवान में अटूट विश्वास से सम्पन्न और दीनों, दलितों तथा पतितों के प्रति सहानुभूति में सिंहवत साहस से युक्त सम्पूर्ण देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मुक्ति का, सेवा का, सामाजिक उत्थान तथा समता का भाव फैलायेंगे।

भगवान के सेवक बनकर कर्मक्षेत्र में उतरो

बार-बार हमारा देश पतन के गर्त में गिरा है और हर बार-बार भगवान ने अवतार लेकर उसका पुनरुद्धार किया है।

मृतक कभी वापस नहीं आते, बीती हुई रात दोबारा नहीं आती, गुजरी हुई वार की लहर फिर-फिर नहीं उठती, न ही मनुष्य उसी देह को पुनः पाता है। अतः ओ मनुष्य! हम तुम्हें मृत अतीत की उपासना से हटाकर जीवित वर्तमान की पूजा के लिए आमन्त्रित कर रहे हैं बीती बातों का रोना रोने की अपेक्षा हम तुम्हें वर्तमान की गतिविधियों में लगने का आह्वान कर रहे हैं। भूली-बिसरी एवं भग्न पगडण्डियों की खोज में कार्य-शक्ति नष्ट करने के बजाय हम तुम्हें पुकार रहे हैं। नवनिर्मित विशाल पथ पर चलने के लिए, जो कि तुम्हारे सम्मुख फैला हुआ है जो बुद्धिमान है, वह इस बात को समझ ले।

जिस दिव्य शक्ति के प्रथम स्पर्श से ही सम्पूर्ण विश्व में सब ओर महातरंगें उठने लगी हैं, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति की जरा अपने मस्तिष्क में कल्याणमयी कल्पना करो और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दास, वृत्ती ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र प्रवर्तन में सहायक बनो।

हृदय में यह प्रबल धारणा लेकर कि तुम परमात्मा के दूत हो, उसकी सन्तान हो, उसके उद्देश्यों की पूर्ति में निमित्त मात्र हो, कर्मक्षेत्र में कूद पड़ो।



सामाजिक संस्थाएँ एवं संगठन, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी स्वयं की पद्धति, योग्यता एवं क्षमता के अनुसार सक्षम बनाने का लक्ष्य रखते हैं, ताकि वह अपने गन्तव्य तक पहुँच सके। प्रत्येक सामाजिक संगठन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य-निर्माण पर बल देता है। समस्त मानवीय प्रयत्नों में मनुष्य निर्माण मूलतः प्रमुख है। जब मनुष्य क्षमता-युक्त होता है, तब समाज और राष्ट्र भी क्षमतावान् हो जाते हैं। एक पुरानी कहावत है कि 'एक पैसे की परवाह कशे तो रुपया अपनी परवाह स्वयं कर लेगा।' चाहे राष्ट्र-निर्माण का प्रश्न हो अथवा विश्व-निर्माण या अन्तर्राष्ट्रीय निर्माण का, बुनियादी प्रक्रिया तो मनुष्य ही है। मनुष्य की ओर ध्यान दीजिए, फिर समाज अपना ख्याल स्वतः कर लेगा। अन्य समस्त व्यवस्थाएँ और पद्धतियाँ दूसरे क्रम में आती हैं।

— माननीय एकनाथजी शानडे (सेवा ही साधना)

पुनरुत्थान का कार्य-१

नींव-निर्माण

जो हमारी समग्र जाति के सृष्टिकर्ता और रक्षक हैं, जो हमारे पूर्वजों के उपास्य हैं, चाहे उन्हें विष्णु कहें, या शिव या शक्ति या गणपति, वे कोई भी हों सगुण या निर्गुण साकार या निराकार; जिन्हें हमारे पूर्व-पुरुषों ने 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' मन्त्ररूप में जाना और पुकारा, वे अपना अनन्त प्रेम लेकर हमारे अन्दर प्रवेश करें-हमारे ऊपर अपने शुभाशीर्वाद की वर्षा करें, ताकि उनकी कृपा से हम एक-दूसरे को समझ सकें, वह हमें एक दूसरे के लिए सच्चे स्नेह, सत्य के लिए तीव्र प्रेम के साथ कार्य करने की प्रेरणा दें और भारत की आध्यात्मिक उन्नति के लिए किये जाने वाले इस महाकार्य के अन्दर हमारे व्यक्तिगत यश, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत गौरव की अणुमात्र आकांक्षा को भी प्रवेश न करने दें।

हम अन्य देशों को भी देखें, परखें

प्राचीनकाल में हमारे देश में आध्यात्मिक भाव की अत्यधिक उन्नति हुई थी। हम आज उसी प्राचीन गौरवगाथा को स्मरण करें। किन्तु, सुदूर अतीत की महानता का अतिशय चिन्तन करने में भारी खतरा यह है कि कहीं हम नवीन कार्यों के लिए प्रयत्न करना बन्द न कर दें और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण-कीर्तन में ही सन्तोष मानकर अपने को सर्वश्रेष्ठ न समझने लगे। इस खतरे से हमें सावधान रहना होगा।

भारत के लिए अपने अन्तःकरण में अगाध प्रेम लेकर अपनी समस्त देशभक्ति और पूर्वजों के प्रति अगाध श्रद्धा के रहते हुए भी मैं अपना यह विचार कदापि नहीं त्याग सकता कि अन्य राष्ट्रों से हमें बहुत कुछ सीखना है। हमें सबके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए हर समय तत्पर रहना चाहिए; क्योंकि हर कोई हमें महान शिक्षा दे सकता है, इसका ध्यान रहे। साथ ही, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि संसार को हम भी कोई महान शिक्षा दे सकते हैं।

भारत से बाहर के देशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। इसके विपरीत विचार रखना हमारी मूर्खता थी और उसी के दण्डस्वरूप हमें हजार वर्षों तक दासता भोगनी पड़ी। भारतीय मस्तिष्क के वर्तमान पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि न तो हमने विदेशों में जाकर अपनी चीजों की उनसे तुलना की और न ही हमने संसार के अन्य क्षेत्रों की गतिविधियों का अध्ययन किया। उसकी यथेष्ट सजा हमें मिल चुकी है। अतः, अब आगे उस भूल को हम न दुहरायें।

“भारतीय को भारत के बाहर कहीं नहीं जाना चाहिए” इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार निरर्थक बचकाने हैं। उनकी सदा-सर्वदा के लिए कपाल-क्रिया कर दो। जितना अधिक तुम भारत के बाहर अन्यान्य देशों में घूमोगे, उतना ही तुम्हारे और तुम्हारे देश के लिए हितकर होगा। यदि तुमने विगत सैकड़ों वर्षों में भी यह किया होता तो तुम आज भारत पर शासन करने के इच्छुक प्रत्येक राष्ट्र के चरणों पर गिरने की स्थिति में दिखाई न देते।

जिन्दा रहना है तो विस्तार करो

जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो तुम्हें फैलना ही होगा। जिस क्षण तुम जीवन का विस्तार बन्द कर दोगे उसी क्षण से जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया, विपत्तियाँ तुम्हारे सामने हैं। मैं यूरोप और अमेरिका गया था। मुझे वहाँ जाना पड़ा; क्योंकि राष्ट्रीय जीवन के शुभ जागरण का यही तो लक्षण है— विस्तार। इस पुनर्जाग्रत राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक विस्तार-भावना ने ही मुझे दूर वहाँ फेंक दिया और सहस्रों अन्य उसी मार्ग पर फेंके जायेंगे। मेरे शब्दों को ध्यान से सुनो। यदि यह राष्ट्र थोड़ा भी जीवित है तो यह होकर रहेगा। अतएव, यह विस्तार हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान का सर्वप्रधान लक्षण है और इसी विस्तार के साथ-साथ मानव ज्ञान की समष्टिगत पूँजी में तथा समग्र विश्व के उत्थान-कार्य में हमारा जो योगदान होना चाहिए वह भी बाहरी विश्व में पहुँच रहा है।

यह कोई नया काम नहीं है। आप लोगों में से जिनकी यह धारणा हो कि हिन्दू अपने देश की चहारदीवारी के भीतर ही चिरकाल से पड़े रहे हैं, वे भारी भूल कर रहे हैं। इसका अर्थ है कि तुमने अपना प्राचीन वाङ्मय नहीं पढ़ा है। तुमने अपने जातीय इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया है।

जीवन दान करोगे, तो जीवनदान पाओगे

हरेक राष्ट्र को अपने अस्तित्व रक्षा के लिए दूसरों को कुछ देना ही होगा। तुम जीवन दान करोगे तो पाओगे भी। दूसरों से पाओगे तो उसके मूल्यस्वरूप अन्य किसी को देना भी होगा। हम सहस्रों वर्षों से जीवित हैं यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते और जो एक गूढ़ प्रश्न बनकर हमारी ओर निहारने लगता है। इसका एकमात्र उत्तर यही है कि हम सदैव बाहरी दुनिया को उपहार देते रहे हैं। मूर्ख भले ही चाहे जो सोचें, किन्तु भारत ने सदैव धर्म, दर्शन-ज्ञान और आध्यात्मिकता का ही उपहार दिया है।

अस्तु, हमें भारत के बाहर जाना ही होगा और अपनी आध्यात्मिकता के बदले में जो कुछ उनके पास देने योग्य है, उसे ग्रहण करना होगा। आत्मजगत् के चमत्कारों के बदले हम उनसे भौतिक जगत् के चमत्कारों का विनिमय करेंगे। हम सदैव उनके शिष्य ही नहीं बने रहेंगे, अपितु गुरु भी बनेंगे। समभाव के अभाव में कभी मित्रता नहीं हो सकती, वहाँ समानता नहीं रह सकती जहाँ एक पक्ष सदैव शिक्षक बना रहे और दूसरा सदैव उसके चरणों में बैठे। यदि तुम अंग्रेज और अमेरिकन जाति के समान स्तर पर पहुँचना चाहते हो तो तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ उन्हें कुछ सिखाना भी होगा। अब भी आगामी अनेक शताब्दियों तक संसार को सिखाने लायक तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

हमें पश्चिम से बहुत कुछ सीखना है

यदि हम ऊपर उठना चाहते हैं तो हमें याद रखना होगा कि हमें पश्चिम से अनेक बातें सीखनी हैं। पाश्चात्य देशों से हमें उनके शिल्प और विज्ञान सीखने होंगे।

अतः यह आध्यात्मिकता ही ऐसी चीज है जो तुम्हें संसार को सिखानी है। शायद दूसरी जातियों से हमें भौतिक ज्ञान, संगठन-कला, विभिन्न शक्तियों के उपयोग की कला, संगठन क्षमताएँ तथा थोड़े यत्न से अधिक लाभ प्राप्त करने का तन्त्र आदि बातें ग्रहण करनी होंगी।

अनुकरण ही सभ्यता नहीं है

दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता या उन्नति का लक्षण नहीं है। यह एक दूसरा पाठ है जो हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए। यदि मैं स्वयं को राजा की पोशाक में सजा लूँ तो क्या मैं इतने से ही राजा बन जाऊँगा? सिंह की खाल ओढ़कर गधा कभी सिंह नहीं हो सकता। कायरतापूर्ण अनुकरण कभी उन्नति का कारण नहीं बन सकता। यह

निश्चय ही मनुष्य के घोर अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य स्वयं से घृणा करने लगता है तब समझना चाहिए मृत्यु उसके द्वार पर आ पहुँची है।

हिन्दू होने का गर्व करो

जब कोई मनुष्य अपने पूर्वजों के बारे में लज्जित होने लगे, तब समझ लो कि उसका अन्त आ गया। मैं यद्यपि हिन्दू जाति का एक नगण्य घटक हूँ, तथापि मुझे अपनी जाति पर गर्व है, अपने पूर्वजों पर गर्व है। मैं स्वयं को हिन्दू कहने में गर्व का अनुभव करता हूँ। मुझे गर्व है कि मैं आप लोगों का एक तुच्छ सेवक हूँ। तुम ऋषियों की सन्तान हो, तुम्हारा देशवासी कहलाने में मैं अपना गौरव मानता हूँ। तुम उन महनीय ऋषियों के वंशज हो जो संसार में अद्वितीय रहे हैं।

अन्यों से जो लें उसे अपने साँचे में ढाल लें

अतएव, आत्मविश्वासी बनो। अपने पूर्वजों पर गर्व करो, उनके नाम से लज्जित मत होओ और अनुकरण मत करो, मत करो। जब कभी तुम दूसरे की प्रभुता स्वीकार करोगे, तभी तुम अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे। यहाँ तक कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यदि तुम केवल दूसरों के आदेशानुसार चलोगे तो धीरे-धीरे तुम्हारी समस्त प्रतिभा-चिन्तन प्रतिभा भी समाप्त हो जायेगी। अपने पुरुषार्थ से अपनी आन्तरिक शक्तियों को विकसित करो, किन्तु अनुकरण मत करो। हाँ, दूसरों के पास अगर कुछ श्रेष्ठ है तो उसे ग्रहण कर लो। औरों के पास से भी हमें कुछ सीखना ही है।

बीज को धरती में बो दो और उसे पर्याप्त मिट्टी, हवा तथा जल पोषण के लिए जुटा दो। किन्तु जब वह बीज पौधा बनता है, एक विशाल वृक्ष में परिणत हो जाता है तो क्या वह मिट्टी बन जाता है, हवा बनता है, जल का रूप धारण कर लेता है? नहीं, वह बीज, मिट्टी, जल आदि जो भी पदार्थ उसके चारों ओर थे, उनसे अपना पोषण रस खींचकर अपनी प्रकृति के अनुकूल एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। यही तुम्हारा आदर्श रहना चाहिए।

सब जगह से अच्छी बातें लो

सचमुच! हमें अन्यों से अनेक बातें सीखनी हैं। और, जो सीखना नहीं चाहता, वह पहले ही मर चुका। महर्षि मनु ने घोषणा की थी;

*आददीत परां विद्यां प्रयत्नादवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीत्वं दुष्कुलादपि॥*

(मनुस्मृति २, २३८)

“श्रद्धापूर्वक नीच से भी अच्छी विद्या को, चाण्डाल से भी परम धर्म को और नीच कुल से भी स्त्रीरत्न को ग्रहण करें।”

अतः, औरों के पास से जो कुछ अच्छा पाओ, अवश्य सीखो। किन्तु उसे इस प्रकार लो कि वह तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल ढल जाये। कहीं तुम ही पराये न बन बैठो। स्वयं को इस भारतीय जीवनधारा से बाहर मत निकलने दो। एक क्षण के लिए भी यह मत सोचो कि कितना अच्छा होता यदि सब भारतीय किसी अन्य जाति के समान खाते-पीते और वेशभूषा धारण करते।

भारतीय जीवनधारा को अबाध बहने दो

कुछ वर्षों में बनी आदत को छोड़ने में कितनी कठिनाई होती है, यह तुम भली-भाँति जानते हो। भगवान ही जानते होंगे कि कितने शत-सहस्र वर्षों से यह विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन-धारा तुम्हारे रक्त में एक विशेष दिशा की ओर बह रही है। इसे वे परमपिता ही जान सकते हैं कि तुम्हारे खून के अन्दर कितने हजार वर्षों से ये संस्कार जमे हुए हैं और क्या तुम यह कहना चाहोगे कि भागीरथी की यह प्रचण्ड धारा जो अपने गन्तव्य समुद्र के लगभग निकट पहुँच चुकी है, अब पुनः हिमालय में अपने आदि स्रोत हिमशिखरों पर वापस जा सकेगी? यह असम्भव है! ऐसा करने का प्रयास करोगे तो यह धारा खण्डित हो जायेगी।

अतएव, इस राष्ट्रीय जीवन-धारा को पूर्ववत् बहने दो। इस शक्तिमान धारा की प्रगति में बाधक अवरोधों को हटाओ, उसका पथ प्रशस्त करो, तब अपनी स्वाभाविक गति से यह आगे बढ़ेगी। तभी यह राष्ट्र अपनी सर्वांगीण उन्नति करते हुए अपने अन्तिम चरण की ओर बढ़ेगा।

हम भारतवासी बहुत परिमाण में विदेशी भावापन्न हो गए हैं। वे विदेशी भाव हमारे राष्ट्रीय धर्म के जीवन-रस को चूसे जा रहे हैं। हम आज इतने पिछड़े हुए क्यों हैं ? क्यों हममें से निन्यानवे प्रतिशत लोग पूर्णतया विदेशी विचारों और भावों से भरे हुए हैं ? इन्हें हमें फेंकना ही होगा, यदि हम संसार के अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में ऊँचे उठना चाहते हैं।

किसी का दोष नहीं, अपने कर्मों को दोष दो

मित्रो ! मैं आपको कुछ खरी-खरी बातें भी सुनाना चाहता हूँ। मैं समाचार पत्रों में पढ़ता हूँ कि जब कभी कोई अंग्रेज हमारे किसी स्वदेशवासी को मार डालता है

अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार करता है, तब सम्पूर्ण देश में हो-हल्ला मच जाता है। मैं यह पढ़ता हूँ तो रोता हूँ। किन्तु दूसरे ही क्षण मेरे मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि आखिर इस सबके लिए जिम्मेदार कौन है? चूँकि मैं वेदान्ती हूँ, अतः मैं अपने से यह प्रश्न पूछे बिना नहीं रह सकता। हिन्दू सदा से आत्म-निरीक्षणकारी रहा है। वह सब चीजों को अपने में वह अपने द्वारा ही देखना चाहता है। अतएव, मैं अपने से ही पूछा करता हूँ कि इसके लिए उत्तरदायी कौन है? और, प्रत्येक बार एक ही उत्तर आता है, “अंग्रेज नहीं है।” नहीं, वे इसके लिए कदापि उत्तरदायी नहीं हैं। अपनी इस समस्त दुरावस्था के लिए, इस अवनति के लिए हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं। हमारे सिवाय इसके लिए कोई अन्य दोषी नहीं है।

वेदान्तिक होने के नाते हम यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि अगर पहले हम ही अपने को हानि न पहुँचायें, तो संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमें हानि पहुँचा सके। भारत की एक पंचमांश जनसंख्या मुसलमान बन गई है। दस लाख से अधिक व्यक्ति ईसाई हो गए। यह किसकी भूल है? प्रश्न यह है, “इन लोगों के लिए, जिन्होंने अपना धर्म त्याग दिया, हमने किया ही क्या था? वे मुसलमान बने ही क्यों?”

अब हम इन धर्मभ्रष्टों के लिए आँसू बहा रहे हैं, किन्तु उनके लिए हमने क्या किया था? हममें से प्रत्येक को यह प्रश्न अपने से पूछना चाहिए। हमने क्या सीखा? क्या हमने सत्य की मशाल अपने हाथों में ले ली, और यदि ली है तो उसके प्रकाश में हम कितनी दूर आगे बढ़ें? तब हमने उनकी सहायता क्यों नहीं की थी? यही प्रश्न है जो हमें स्वयं से पूछना चाहिए। हमने ऐसा नहीं किया यह हमारी भूल थी, हमारा अपना कर्म था। अतः किसी को दोष न दें, बल्कि अपने कर्मों को ही दोष दें।

दुर्बल शरीर को ही रोग सताते हैं

जड़वाद अथवा इस्लामवाद, ईसाइयत या संसार का अन्य कोई भी ‘वाद’ यहाँ कदापि सफल नहीं हो सकता था, यदि तुम स्वयं उनके लिए दरवाजा न खोल देते। कोई कीटाणु मानव-शरीर पर तब तक आक्रमण नहीं कर सकता जब तक कि वह शरीर ही पापकर्मों, दूषित आहार-विहार एवं अभावों आदि के कारण दुर्बल और पतित न हो गया हो। स्वस्थ मनुष्य का सब तरह के विषैले कीटाणुओं के बीच में रहने पर भी बाल-बाँका नहीं हो सकता।

हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं- एक तो बाहर से कुछ विषैले कीटाणुओं का प्रवेश, दूसरा शरीर की अवस्था विशेष। जब तक शरीर

ही ऐसी अवस्था में नहीं पहुँच चुका है कि कीटाणुओं का उसमें प्रवेश सुगम हो जाये, अथवा जब तक शरीर में घुसकर पलते-बढ़ते रहें, तब तक संसार के किसी कीटाणु में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह शरीर में कोई रोग पैदा कर सके। वास्तव में, प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर लाखों कीटाणुओं का सतत आवागमन चलता रहता है, किन्तु जब तक शरीर बलवान है, उसे उनका पता नहीं चलता। जब शरीर कमजोर हो जाता है, तथा ये विषैले कीटाणु उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और उसे रोगी बना देते हैं। बिल्कुल ऐसा ही राष्ट्रीय जीवन के साथ भी होता है।

जब कभी राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो जाता है, तभी सभी प्रकार के रोग-जीवाणु उस राष्ट्र के शरीर में घुस जाते हैं और उसके राजनीतिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक अथवा बौद्धिक जीवन को रूग्ण बना देते हैं। अतएव, उसकी चिकित्सा के लिए हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचना चाहिए और रक्त को समस्त अशुद्धताओं से मुक्त करना चाहिए। इसका एकमेव मार्ग यही होगा कि मनुष्य को बलवान बनायें, उसके रक्त को शुद्ध करें और शरीर को पुष्ट करें, ताकि वह समस्त बाह्य विषों का प्रतिरोध कर उन्हें पराजित कर सके।

बन्धुओ ! हमें यह जानकर लज्जित होना चाहिए कि वे अधिकांश वास्तविक दोष जिनके कारण विदेशी जातियाँ हिन्दू राष्ट्र से अनुचित लाभ उठा सकी, हमारी अपनी ही देन है। भारत में विदेशी जातियों के मत्थे अनेक वृथा लांछनों को आरोपित करने में हम ही कारण बने हैं।

यह हास्यास्पद स्थिति

हम कितनी हास्यास्पद स्थिति को प्राप्त हो गए हैं? यदि कोई भंगी, भंगी के रूप में ही किसी के पास आता है तो उसे प्लेग के समान दुत्कारा जाता है। किन्तु, जब कोई पादरी कुछ मन्त्र पढ़कर उसके सिर पर थोड़ा जल छिड़ककर उसका धर्म-परिवर्तन कर लेता है और उसे एक कोट पहना देता है, चाहे वह कितना ही फटा हो और तब यदि वह बड़े-से-बड़े कर्मकाण्डी हिन्दू के कमरे में प्रवेश करे तो मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो उसे तुरन्त बैठने के लिए कुर्सी न दे और तपाक से उससे हाथ न मिलाये। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है।

पतन की विगत छह-सात शताब्दियों का जरा स्मरण करो जबकि सैकड़ों सयाने व्यक्ति वर्षों तक केवल इस विषय पर बहस करते रह गए कि वे गिलास से पानी दाहिने हाथ से पियें अथवा बायें हाथ से; हाथों को तीन बार माँजें अथवा चार बार।

यह बौद्धिक जड़ता!

जिनके मस्तिष्क की प्रवृत्ति ऐसी छोटी-छोटी बातों से परेशान रहने की है कि घण्टी दाहिनी ओर बजे या बायीं ओर, चन्दन मस्तक पर लगाया जाये या अन्य कहीं, आरती दो बार उतारी जाये या तीन बार-उन्हें केवल 'घृणित' संज्ञा से ही पुकारा जा सकता है। जिनके मस्तिष्कों में इस मूर्खता के अतिरिक्त अन्य किसी चीज का प्रवेश ही नहीं हो सकता, उन्हें केवल 'जड़बुद्धि' ही कहा जा सकता है। इन भ्रान्त धारणाओं का ही फल हुआ कि भाग्य ने हमारा साथ छोड़ दिया, हमें ठोकें लगायी और हम पर थूका; जबकि पाश्चात्य लोग संसार के स्वामी बन बैठे।

मौलिकता, तेजस्विता एवं कर्मण्यता का अभाव

ऐसे लोगों से जो इन क्षणिक प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करने में ही अपने सम्पूर्ण जीवन गुजार दें और जो उन पर अति पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर डालें, तुम क्या अपेक्षा कर सकते हो?

“यदि एक आलू बैंगन से छू जाये तो सृष्टि के प्रलय होने में कितना समय और रह जाएगा?” “यदि कोई हाथों को बारह बार मिट्टी से न माँजे तो उसके पूर्वजों की चौदह पीढ़ियाँ नरक में जायेंगी या चौबीस?” ऐसे प्रश्नों के वैज्ञानिक उत्तरों को खोजने में ही ये लोग विगत दो हजार वर्षों से भटकते रहे हैं जबकि एक-चौथाई जनसंख्या भूखों मरती रही है।

एक आठ वर्ष की कन्या का विवाह तीस वर्ष के प्रौढ़ के साथ कर दिया जाता है और उस कन्या के माता-पिता इस पर खुशी मनाते हैं। यदि कोई इसका विरोध करता है तो तर्क दिया जाता है कि “ऐसा न करने से हमारा धर्म उलट जाता।” आखिर उनका यह धर्म किस तरह का है कि वे वय प्राप्त होने के पूर्व ही अपनी कन्या को माता बनते हुए देखना अच्छा समझते हैं और इसके लिए अनेक कारण प्रस्तुत करते हैं? कई लोग इन बातों का दोष भी मुसलमानों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, क्या सचमुच उन्हें दोष देना उचित है?

हमारे धर्म के लिए भय यही है कि वह अब चूल्हे में घुसना चाहता है। हममें से अधिकांश मनुष्य इस समय न तो वेदान्तिक हैं, न पौराणिक और न तान्त्रिक। हम केवल “मत छुओ-वादी” हो गए हैं। हमारा धर्म चूल्हे में घुस गया है। “भात की हाण्डी” हमारा ईश्वर है और धर्म है, ‘हमें मत छुओ, हम पवित्र हैं।’ यदि यह भाव एक शताब्दी तक और चलता रह गया, तो हममें से हरेक का स्थान पागलखाने में होगा।

जब मस्तिष्क जीवन की उच्चतर समस्याओं का विचार करने में असमर्थ हो जाय, तब समझना चाहिए कि वह उसकी दुर्बलता का लक्षण है, उसकी मौलिकता पूर्णतः नष्ट हो चुकी है, मस्तिष्क बिल्कुल शक्तिहीन हो गया है, उसकी गतिशीलता, चिन्तनशक्ति नष्ट हो चुकी है और फिर वह छोटी-सी-छोटी सीमा के भीतर ही चक्कर लगाने की कोशिश करता है।

रूढ़िवादी अन्धविश्वास और नूतन जड़वाद से बचो

हमें इस विषम स्थिति में से अपना मार्ग निकालना है। यदि एक ओर प्राचीन रूढ़िवादी अन्धविश्वासों की गहरी खाई है तो दूसरी ओर यूरोपीयता अर्थात् जड़वाद का गहरा कुआँ है...

आज हमें एक ओर वह मनुष्य दिखता है जो पाश्चात्य ज्ञानरूपी मदिरापान से उन्मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाया करता है। उसके लिए हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज है, हिन्दू दर्शनशास्त्र बच्चों की बोली है, और हिन्दूधर्म मूर्खों का कुसंस्कार मात्र है।

दूसरी ओर, एक वह आदमी है जो शिक्षित तो है, पर एक प्रकार से विकृत मस्तिष्क है। यह बिल्कुल भिन्न धरा पर चलता है, हर एक छोटी-सी बात का अलौकिक अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। अपनी विशिष्ट जाति या देव-देवियों या गाँव से सम्बन्ध रखने वाले जितने अन्धविश्वास हैं उनके लिए उसके पास दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहाने वाले अर्थ सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिए प्रत्येक ग्राम्य अन्धविश्वास वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उन्हें कार्यरूप में परिणत करने पर ही राष्ट्रीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन दोनों से बचना चाहिए।

जो मस्तिष्क श्रेष्ठ एवं उदात्त विचारों को धारण नहीं कर सकता, जो अपनी मौलिक विचार-शक्ति को खो चुका है, जिसका पौरुष नष्ट हो चुका है तथा जो मस्तिष्क धर्म के नाम पर सब प्रकार के क्षुद्र अन्धविश्वासों द्वारा स्वयं को विषाक्त करता रहता है उससे हमें सावधान रहना चाहिए।

दुर्बलता के लक्षण

चमत्कारप्रियता एवं अन्धविश्वास ये सदा दुर्बलता के ही चिह्न होते हैं। ये अवनति और मृत्यु के चिह्न हैं। अतएव, उनसे बचे रहो। बलवान बनो और अपने पैरों पर खड़े हो। इस संसार में अनेक महान वस्तुएँ हैं जो अति आश्चर्यजनक हैं। प्रकृति

के बारे में हमारा जो सीमित ज्ञान है, उसकी तुलना में हम उन्हें असामान्य भले ही कह दें, किन्तु उनमें से कोई भी चमत्कार नहीं है।

इस भारत भूमि पर यह उपदेश कभी नहीं दिया गया कि धर्म-विषयक सत्य चमत्कार जगत् की वस्तुएँ हैं अथवा यह कि हिमालय की बर्फीली चोटियों पर बैठने वाली किन्हीं गुप्त समितियों के उन पर एकाधिकार हैं।

अन्धविश्वास दूर करो

ये गुप्त समितियाँ कहीं भी नहीं हैं। इन अन्धविश्वासों के पीछे मत दौड़ो। तुम्हारे अपने और अपनी जाति के लिए उत्तम होगा कि घोर नास्तिक बन जाओ; क्योंकि कम-से-कम उससे तुम्हारा कुछ तो बल बना रहेगा, किन्तु इस प्रकार अन्धविश्वासपूर्ण होना अवनति तथा मृत्यु को ही निमन्त्रण है। मानवजाति को धिक्कार है कि सतेज मस्तिष्क वाले मनुष्य इन अन्धविश्वासों पर अपना समय गँवा रहे हैं, दुनिया के सड़े-से-सड़े अन्धविश्वासों की रूपक व्याख्याओं का आविष्कार करने में ही समय नष्ट करते रहे हैं। साहसी बनो, हरेक विषय की दूसरी प्रकार व्याख्या करने की चेष्टा मत करो।

वास्तविकता यह है कि हमारे पास बहुतेरे अन्धविश्वास हैं, हमारे देह पर बहुत से दाग तथा हानिकारक फोड़े हैं- इनको काटकर, चीरफाड़ कर एकदम निकाल देना होगा, नष्ट कर देना होगा, पर इनके नष्ट होने से हमारा धर्म, हमारा राष्ट्रीय जीवन, हमारी आध्यात्मिकता नष्ट नहीं होगी बल्कि इससे हमारे धर्म के मूल तत्त्व अटूट रहेंगे। और जितनी जल्दी ये काले दाग निकाले जायेंगे, उतनी ही अधिक जगमगाहट के साथ ये मूल तत्त्व चमकते रहेंगे। इन्हीं पर डटे रहो।

शारीरिक दुर्बलता

हमारे उपनिषद् कितने ही बड़े क्यों न हों, अन्यान्य जातियों की तुलना में हमारे पूर्व-पुरुष, ऋषिगण कितने ही बड़े क्यों न हों, मैं आपसे स्पष्ट भाषा में कह देता हूँ कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। सबसे पहली दुर्बलता है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक-तिहाई दुःखों का कारण है। हम आलसी हैं; हम कार्य नहीं कर सकते।

सर्वप्रथम हमारे युवकों को बलवान बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे नवयुवक बन्धुगण! तुम बलवान बनो, यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता-पाठ

करने की अपेक्षा तुम फुटबॉल खेलने में स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे। मेरे ये शब्द तुम्हें अटपटे लगेंगे, किन्तु इन निकम्मों को यह कहना अत्यावश्यक था; कारण, मैं तुमको प्यार करता हूँ।

सशक्त शरीर से ही 'गीता' समझ सकोगे

बलिष्ठ स्नायुओं एवं सशक्त भुजाओं के द्वारा ही तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में तेजस्वी रक्त होने पर तुम श्रीकृष्ण की महान् शक्ति और प्रतिभा को अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हें अपने पौरुष का भान होगा, उस समय तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा को भलीभाँति समझोगे।

हम बहुत-सी बातें तोते के समान बोलते तो हैं, पर तदनुसार आचरण नहीं करते। अपनी कथनी को करनी में परिणत न करना हमारी आदत हो गई है। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य ही इसका प्रमुख कारण है। इस प्रकार दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता; हमें अपने मस्तिष्क को बलवान् बनाना होगा।

हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है- लोहे की भुजाएँ और फौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बलता लाने वाले निरर्थक विचार।

घर में शेर, बाहर गीदड़

इसके सिवाय हमारे भीतर एक और बड़ा दोष है। वास्तविक बात यह है कि सदियों से गुलामी करते-करते हमारी जाति स्त्रीवत् बन गई है। इस देश में या अन्य किसी देश में, कहीं भी तुम स्त्रियों को केवल पाँच मिनट के लिए भी बिना झगड़ा किये एकत्र नहीं देख पाओगे। यूरोपीय देशों में स्त्रियों बहुत बड़ी-बड़ी घोषणाएँ करती हैं। इसके बाद वे आपस में झगड़ा करने लग जाती हैं। इस समय कोई पुरुष बीच में कूद पड़ता है और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे संसार में उन पर प्रभुत्व करने के लिए किसी-न-किसी पुरुष का रहना आवश्यक दिखाई देता है।

हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियों के समान हो गए हैं। यदि कोई स्त्री, स्त्रियों का नेतृत्व करने चलती है, तो सब मिलकर उसकी नुक्ताचीनी शुरू कर देती हैं, उसकी खिल्ली उड़ाने लगती हैं और अन्त में उसे नेतृत्व से हटाकर ही दम लेती हैं। किन्तु यदि कोई पुरुष आता है और उनके साथ जरा कड़ा-रूखा व्यवहार करता है और बीच-बीच में डाँट-फटकार सुनाता रहता है, तो वे ठीक रहती हैं। वे इसी प्रकार की मोहनी क्रिया की अभ्यस्त हो गई हैं।

ठीक इसी तरह, यदि हममें से कोई देशवासी खड़ा होता है और महान बनने की चेष्टा करता है तो हम सब उसकी टाँग खींचने की कोशिश करते हैं। किन्तु यदि कोई विदेशी आता है और हमें ठोकर लगाता है, तो हम ठीक रहते हैं। हम इसके अभ्यस्त हो गए हैं। क्या यह सच नहीं है?

परस्पर ईर्ष्या

हम एक साथ मिल नहीं सकते, हम एक-दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम बड़े स्वार्थी हैं, हम तीन मनुष्य भी एक-दूसरे से घृणा या ईर्ष्या किए बिना एकत्र नहीं रह सकते।

हाय! सदियों की घोर ईर्ष्या द्वारा हम लबालब भरे हुए हैं, हम सदा एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हैं। क्यों अमुक व्यक्ति को मुझसे अग्रस्थान दिया गया? क्यों हम अमुक से बड़े न हो सके? हमारी सर्वदा यही चिन्ता बनी रहती है। यहाँ तक कि ईश्वर की पूजा में भी हम अग्रस्थान पाने के लिए लालायित रहते हैं। दासता की इस निम्न स्थिति में हम पहुँच गए हैं।

इस घृणास्पद दुष्ट बुद्धि को त्याग दो, कुत्तों की तरह परस्पर झगड़ना, एक-दूसरे पर भौंकना बन्द कर दो। शुभ उद्देश्य, सही साधन एवं सात्त्विक साहस के अधिष्ठान पर खड़े होओ और वीर बनो।

सर्वप्रथम हमें ईर्ष्यालु वृत्ति के इस धब्बे को जिसे प्रकृति सदैव गुलामों के मस्तक पर अंकित कर देती है, मिटा देना होगा। किसी से ईर्ष्या मत करो। सत्कार्य में रत प्रत्येक कार्यकर्ता का हाथ बँटाने को तत्पर रहो। तीनों लोकों में प्रत्येक प्राणी के लिए सद्भाव रखो।

ईर्ष्या : संगठित उद्यम का सबसे बड़ा शत्रु

प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

- (१) सद्वृत्ति की शक्ति पर अडिग श्रद्धा।
- (२) अविश्वास और ईर्ष्या से मुक्ति।
- (३) सत्प्रवृत्त एवं सत्कार्य में रत व्यक्तियों के प्रति सहयोग का भाव।

आखिर यह हिन्दू राष्ट्र अपने अद्भुत बुद्धिबल एवं अन्य गुणों के रहते हुए भी खण्डित क्यों हुआ? मेरा उत्तर एक ही है— ईर्ष्या के कारण! इस अभागी हिन्दू जाति

के समान संसार में कहीं भी लोगों में एक-दूसरे के प्रति इतनी घृणास्पद ईर्ष्या नहीं रही, कहीं भी लोग एक-दूसरे के यश और प्रतिष्ठा के प्रति इतने ईर्ष्यालु नहीं रहे। और यदि कभी तुम्हें पश्चिम यात्रा का अवसर मिला तो तुम पाश्चात्य देशों में इस दुष्प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव अनुभव करोगे।

भारत में तीन व्यक्ति पाँच मिनट के लिए भी आपस में मिलकर कार्य नहीं कर सकते। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति सत्ता के लिए संघर्ष करता है, जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में सम्पूर्ण संगठन संकट में पड़ जाता है।

शक्ति का रहस्य एकता और संगठन में निहित है

मुझे अथर्ववेद संहिता की एक ऋचा याद आ गयी, जो सदा ध्यान में रखने योग्य है। उसमें कहा गया है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानानामुपासते ॥

(अथर्ववेद प्रथम कांड)

कि “तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ क्योंकि प्राचीनकाल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने हविर्भाग पाया। देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गए कि वे एकचित्त थे। एक मन हो जाना ही समाज के गठन का रहस्य है।

इसका क्या कारण है अथवा वह कौन-सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अँग्रेज पूरे तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मनोविज्ञान क्या कहता है? यही कि वे चार करोड़ मनुष्य अपनी-अपनी इच्छाशक्ति को एकत्र कर देते अर्थात् शक्ति का अनन्त भण्डार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ मनुष्य अपनी-अपनी इच्छाओं को एक-दूसरे से पृथक् किये रहते हो। बस यही इसका रहस्य है कि वे कम होकर भी तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं।

अतएव, यदि भारत को महान बनाना है, इसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन करने की और बिखरी हुई इच्छाशक्तियों को एकत्र करने की।

यदि तुम ‘आर्य’ और ‘द्रविड़’, ‘ब्राह्मण’ और ‘अब्राह्मण’ जैसे तुच्छ विषयों को लेकर तू-तू मैं-मैं करते रहोगे, झगड़े और पारस्परिक विरोध भाव को बढ़ाओगे, तो

समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते चले जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य गठित होने वाला है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। बस इच्छाशक्ति को केन्द्रीभूत और शत्रुमुखी शक्तियों को एकमुखी करने में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है।

धर्म के आधार पर निर्माण

किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल और गुरुतर हैं। जन्मगत भेद, धर्म, भाषा, शासन-ये ही एक साथ मिलकर राष्ट्र की सृष्टि करते हैं।

हमारी एकमात्र सम्मिलित भूमि हमारी पुण्य परम्परा अर्थात् हमारा धर्म है। एकमात्र अधिष्ठान वही है और उसी पर हमें राष्ट्र का संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का आधार है।

भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उसकी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देशभर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या मतलब है? उस अर्थ में एक धर्म नहीं, जिस अर्थ में ईसाइयों, मुसलमानों या बौद्धों में एक धर्म की कल्पना की जाती है।

जीवनदायी समान सिद्धान्तों पर ही आग्रह करें

हम जानते हैं, हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा चाहे कितने ही विभिन्न क्यों न हों, उनमें कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत हैं। अस्तु, हमारे सम्प्रदायों में कुछ ऐसे साधारण सिद्धान्त अवश्य हैं जिनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्भुत विविधता के लिए गुंजाइश हो जाती है और साथ ही स्वतन्त्र चिन्तन और जीवन-रचना के लिए हमें पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है।

हम लोग चाहते हैं कि अपने धर्म के ये जीवनप्रद समान तत्त्व हम सबके सामने लायें और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध उन्हें समझें तथा जीवन में परिणत करें। यह हमारे लिए आवश्यक है। यह प्रथम पग है। अतः इसे उठाना ही होगा।

धर्म की ऐक्यशक्ति

हम देखते हैं कि एशिया और विशेषतः भारत में जाति, भाषा, समाज एवं राष्ट्र सम्बन्धी सभी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण-शक्ति के सामने उड़ जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मानस के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही

भारतीय जीवन का मूलमन्त्र है और हमें इस सर्वाधिक सुगम मार्ग के द्वारा ही सफलता प्राप्त होगी।

केवल इतना ही सत्य नहीं कि धार्मिक आदर्श यहाँ सबसे ऊँचा आदर्श है, अपितु भारत में तो कार्य करने का यही एकमात्र सम्भाव्य उपाय है। पहले इस पथ को सृष्टि किये बिना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसीलिए भावी भारत के निर्माण का पहला कार्य युग-युगों से चले आये इस राष्ट्रीय जीवन के महापर्वत में से धार्मिक एकता रूप प्रथम सोपान का निर्माण करना होगा।

विश्वंखल आध्यात्मिक शक्तियों का एकीकरण

यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू-द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, अथवा शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का नाम धारण करते हुए भी आपस में कुछ सामान्य भाव रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें।

सचमुच वे झगड़े बिल्कुल निरर्थक हैं, हमारे शास्त्र इनकी निन्दा करते हैं, हमारे पूर्व-पुरुषों ने इन्हें त्याज्य बताया है वे महापुरुषगण जिनके हम वंशज कहलाते हैं, जिनका रक्त हमारी नसों में बह रहा है, अपने बच्चों को इन क्षुद्र बातों के लिए झगड़ते हुए देखकर घोर घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं।

भारत की विश्वंखल आध्यात्मिक शक्तियों के एकीकरण में ही भारत की राष्ट्रीय एकता निहित है। भारत में राष्ट्रीय एकता का अभिप्राय है, उन हृदयों का भी एकीकरण जिनके स्पन्दन से एक ही आध्यात्मिक लय झंकृत हो रही है।



पुनरुत्थान का कार्य-२

कार्य-योजना

भगवान वेदव्यास कहते हैं, इस कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है और सब प्रकार के दानों में आध्यात्मिक ज्ञान का दान ही सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद लौकिक विद्यादान, फिर जीवनदान और सबसे अन्तिम अन्नदान।

अन्नदान हम लोगों ने बहुत किया है, हमारी जैसी दानशील जाति दूसरी नहीं। यहाँ तो भिक्षुक के घर में भी जब तक रोटी का एक टुकड़ा रहता है, वह उसमें से आधा दान करता है। ऐसा दृश्य केवल भारत में ही दीख पड़ता है। हमारे यहाँ इस दान की कमी नहीं। हमें अन्य दोनों धर्मदान और विद्यादान के लिए बढ़ना चाहिए। अगर हम सब वीरवृत्ति को धारणकर, वृद्ध अन्तःकरणों के साथ पूर्ण प्रामाणिकता को अपनाकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ें तो पच्चीस साल के भीतर सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा और ऐसा कोई प्रश्न शेष न रह जायगा जिसके लिए जूझते रहना पड़े, तब सम्पूर्ण भारत फिर एक बार आर्यत्व से परिपूर्ण हो जायेगा।

चार दान

धन्य हैं वे महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास, जिन्होंने कहा है, “कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है।” तप और कठिन योगों की साधना इस युग में नहीं होती। इस युग में दान देने तथा दूसरों की सहायता करने की विशेष जरूरत है।

दान शब्द का क्या अर्थ है? सब दानों से श्रेष्ठ है धर्म-दान, फिर है विद्यादान, फिर प्राणदान और सबसे अन्तिम है अन्न-जल-दान।

जो आध्यात्मिक ज्ञान का दान करते हैं वे आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। जो लौकिक विद्यादान करते हैं वे मनुष्य की आँखें खोलते हैं, उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान का पथ दिखा देते हैं। अन्य दान, यहाँ तक कि प्राणदान भी इनके निकट गौण है। अतएव तुम्हें समझ लेना चाहिए कि अन्यान्य सब कर्म आध्यात्मिक ज्ञानदान से निम्नतर है।

जो मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान देता है वही वस्तुतः मानव का सबसे बड़ा उपकारक है और इसीलिए हम सदैव पाते हैं कि जिन्होंने मनुष्य को उसकी आध्यात्मिक साधना में सहायता दी, वे ही मनुष्यों में सर्वाधिक प्रभावशाली माने गए, क्योंकि आध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के समस्त क्रियाकलापों की सच्ची आधारशिला है। आध्यात्मिकता स्वस्थ एवं शक्तिशाली व्यक्ति में अन्य सब दृष्टियों से भी शक्तिमान बनने की क्षमता रहती है। जब तक मनुष्य में आध्यात्मिक शक्ति नहीं है, तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भली प्रकार पूरी नहीं हो सकतीं।

धर्म-प्रचार अर्थात् आध्यात्मज्ञान

इस दानशील देश में हमें पहले प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के कार्य को उत्साहपूर्वक हाथ में ले लेना चाहिए। यह ज्ञान-विस्तार भारतवर्ष की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहना चाहिए, इसका विस्तार सम्पूर्ण जगत् में करना होगा और यही अब तक होता भी आया है।

जो लोग कहते हैं कि भारत के विचार कभी भारत से बाहर नहीं गये, और जो लोग कहते हैं कि मैं ही पहला संन्यासी हूँ, जो भारत के बाहर धर्म-प्रचार करने गया, वे अपने राष्ट्र के इतिहास को नहीं जानते। यह कार्य कई बार हो चुका है। जिस समय संसार को उसकी आवश्यकता हुई, उसी समय भारत में निरन्तर बहने वाले आध्यात्मिक ज्ञान स्रोत ने संसार को प्लावित कर दिया।

प्रत्येक घर में धर्म का प्रवेश हो

भारत का धर्म बहुत दिनों से गतिहीन है, वह स्थिर होकर एक जगह टिका हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीनकाल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो।

धर्म इस जाति में सभी को समान रूप में वंशानुक्रम से प्राप्त हुआ है; धर्म ही इस जाति का जन्मसिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहज-सुलभ बनाना होगा। जिस प्रकार ईश्वर के राज्य में सबको वायु बिना प्रयास किये प्राप्त होता है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। यही कार्य है जो हमें भारत में करना होगा, किन्तु छोटे-छोटे सम्प्रदाय स्थापित करके और केवल मतभेद के प्रश्नों पर झगड़ते रहकर नहीं। हम उन्हीं बातों का प्रचार करें जिन पर हम सब सहमत हैं।

सत्य दो, असत्य स्वयं मिट जायेगा।

यदि किसी कमरे में सदियों से घोर अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार'! 'भयंकर अन्धकार'! चिल्लाने मात्र से अन्धकार दूर हो जायेगा? नहीं, कमरे को आलोकित कर दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नहीं। मनुष्य के सुधार व संस्कार का यही मार्ग है।

पहले मनुष्य पर विश्वास करो। तदुपरान्त यदि तुम्हें दिखाई दे कि उसमें दोष है, वह कोई गलतियाँ करता है अथवा अत्यन्त अपरिपक्व एवं घृणित सिद्धान्तों को अपनाता है, तो निश्चय मानो कि इसका कारण उसकी मूल प्रकृति नहीं; अपितु उसके जीवन में श्रेष्ठ आदर्शों का अभाव मात्र है।

तुम उसे सत्य का दर्शन करने दो- बस यहीं तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब उसे उस सत्य के प्रकाश में अपना आत्मनिरीक्षण करने दो और मेरे शब्दों पर ध्यान दो। यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो असत्य स्वयं ही तिरोहित हो जायेगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किये बिना नहीं रहता। सत्य अवश्य ही उसकी अच्छाइयों को प्रकट करेगा।

यदि तुम देश का आध्यात्मिक उत्थान करना चाहते हो, तो उसका यही एकमेव मार्ग है। उसका मार्ग यही है; न कि लड़ना-झगड़ना, न कि लोगों को यह बतलाते रहना कि जो कुछ तुम कर रहे हो, वह सब बुरा है। आवश्यकता इस बात की है कि जो कुछ अच्छा है उसे उनके समक्ष रख दो, फिर देखो, वे कितनी उत्सुकता के साथ उसे ग्रहण करते हैं। मनुष्य मात्र के अन्दर जो अविनाशी ईश्वरीय तेज विद्यमान है, वह जो कुछ भी भव्य एवं श्रेष्ठ है, उसे हाथ फैलाकर ग्रहण कर लेता है।

धर्मग्रन्थों में छिपे आध्यात्मिक रत्नों को प्रकाश में लाया जाये

मेरा विचार है, सर्वप्रथम आध्यात्मिकता के उन रत्नों को, जो हमारे शास्त्र ग्रन्थों में मौजूद हैं, और जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, बाहर निकालना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल यहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम न चलेगा, अपितु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उस शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के कोष से उन्हें निकालना होगा। एक वाक्य में कहें तो मैं उन्हें जनसुलभ बना देना चाहता हूँ।

इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हमारी गौरवशालिनी भाषा अर्थात् संस्कृत ही है। और यह बाधा तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक कि सम्पूर्ण राष्ट्र (यदि सम्भव हो तो) संस्कृतज्ञ नहीं बन जाता।

संस्कृत के प्रचार की आवश्यकता

यह कठिनाई तुम तब समझ सकोगे जब मैं प्रकट करूँ कि मैं आजीवन इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करते रहने पर भी जब कभी इसकी कोई नयी पुस्तक उठाता हूँ तब वह मुझे बिल्कुल अभिनव जान पड़ती है। जब सोचो कि जिन लोगों ने विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं पाया, उनके लिए वह कितनी अधिक क्लिष्ट होगी। अतएव, मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। किन्तु, साथ ही संस्कृत की शिक्षा भी अवश्य चलती रहनी चाहिए, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनिमात्र ही राष्ट्र को एक प्रकार की प्रतिष्ठा, शक्ति एवं तेज प्रदान करती है।

रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की निम्न जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था उसे उन महान् धर्माचार्यों के जीवन काल में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई, किन्तु उनके बाद उस कार्य का जो असफल परिणाम निकला उसकी मीमांसा होनी चाहिए, और किसी कारण से उन बड़े-बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गई, इसका विवेचन भी किया जाना चाहिए।

संस्कृत प्रगति को स्थायी बनाने में सहायक होगी

इसका रहस्य यह है कि उन्होंने निम्न जातियों को उठाया था; उनकी पूर्ण इच्छा थी कि ये उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायें, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का विस्तार बन्द कर दिया।

वे जनता की बोलचाल की भाषा में बोलते थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ कि इससे उनके भाव बहुत शीघ्र ही फैले और दूर-दूर तक पहुँचे, किन्तु इसके साथ ही संस्कृत भाषा का भी प्रचार होना चाहिए था। बौद्धिक ज्ञान का विस्तार तो हुआ, किन्तु उनके मन में ज्ञान की महिमा का भाव नहीं जग सका और न ही वे संस्कार-सम्पन्न बन सके। विभिन्न प्रकार के आघातों के सम्मुख टिके रहने की क्षमता केवल संस्कारित ज्ञान में ही होती है न कि निरीह बौद्धिक जानकारियों के ढेर में।

जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसे अनेक विचार दो, इससे उसकी जानकारी बढ़ेगी। परन्तु इससे आगे बढ़कर उसे संस्कारित बनाने का प्रयास भी

करो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।

ज्ञान का शाश्वत भण्डार और श्रद्धा केन्द्र

उपनिषद् हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। भारत के समस्त दर्शन और सम्प्रदायों को यह प्रमाणित करना होता है कि उसका दर्शन अथवा सम्प्रदाय उपनिषद् रूपी नींव के ऊपर प्रतिष्ठित है। यदि कोई ऐसा करने में समर्थ न हो सके तो वह देश अथवा सम्प्रदाय धर्मविरुद्ध गिना जाता है; इसलिए वर्तमान समय में समग्र भारत के हिन्दुओं को यदि किसी समान नाम से परिचित कराना हो तो उनको 'वेदान्तिक' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा। मैं वेदान्तिक धर्म और वेदान्त इन दोनों शब्दों का व्यवहार सदा इसी अर्थ से किया करता हूँ।

यहाँ तक कि बौद्धों और जैनों के दार्शनिक ग्रन्थों में भी श्रुतियों की सहायता को अमान्य नहीं किया गया है और कम-से-कम कतिपय बौद्ध शाखाओं तथा अधिकांश जैन ग्रन्थों में श्रुतियों के प्रामाण्य को पूर्णतया स्वीकार किया गया है। वे केवल उन अंशों को नहीं मानते जिन्हें वे हिंसक श्रुतियाँ कहते हैं, और जिन्हें वे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त अंश बताते हैं।

उपनिषद् शक्ति के भण्डार

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ शक्ति से भरा हुआ है। यह विषय विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। समस्त जीवन में मैंने यही महाशिक्षा प्राप्त की है। उपनिषद् कहते हैं— 'हे मानव! तेजस्वी बनो, दुर्बलता को त्यागो।'

जो हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकती है, ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हमें विगत एक हजार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विगत एक हजार वर्ष में हमारे राष्ट्रीय जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही रह गया था, कि किस प्रकार हम अपने को अधिक-से-अधिक दुर्बल बना सकें। ताकि, अन्त में हम कीटवत रह जायें और उस समय जो चाहे हमें रौंद डाले।

हे बन्धुगण! तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त का प्रवाह है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणों से कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित, शक्तिशाली और वीर्यसम्पन्न हो सकता है।

समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुःखी, पददलित लोगों को वे उच्च स्वर से पुकार कर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिए कहते हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता-दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूलमन्त्र है।

उपनिषद् केवल विरक्ति के प्रतिपादक नहीं

किन्तु आश्चर्य; वे केवल संन्यासियों तक सीमित रहे! वे रहस्य बन गए! उपनिषद् केवल अरण्यवासी संन्यासियों की सम्पत्ति रह गए। हाँ शंकर ने थोड़ी दया अवश्य की और कहा, “गृहस्थ मनुष्य भी उपनिषदों का अध्ययन कर सकते हैं; इससे उनका कल्याण ही होगा, कोई अनिष्ट नहीं होगा।” परन्तु अभी तक यह संस्कार कि उपनिषदों में केवल संन्यासियों के आरण्यक जीवन की ही चर्चा है, हमारे मन पर जमा हुआ है।

जो स्वयं वेदों के प्रकाशक हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वेदों की एकमात्र प्रामाणिक टीका ‘गीता’ एक ही बार चिरकाल के लिए बनी है; यह सबके लिए और जीवन के प्रत्येक कर्मक्षेत्र में उपयोगी है।

वेदान्त के इन महान तत्वों को बाहर लाना ही होगा। अब ये केवल अरण्य में अथवा गिरि-गुहाओं में बन्द नहीं रहेंगे; विचारालयों में, प्रार्थना मन्दिरों में, दरिद्र की कुटी में, मत्स्यजीवियों के गृहों में, छात्रों के अध्ययन-स्थान में-सर्वत्र ही उनका प्रसार व व्यवहार होगा।

उपनिषद्: सब कर्मक्षेत्रों में सहायक

उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुवा आदि साधारण जन किस काम में लायेंगे? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है।

मत्स्यजीवी यदि अपने को आत्मा कहकर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मत्स्यजीवी होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा कहकर चिन्तन करे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे तो वह एक अच्छा वकील होगा। अन्यो के विषय में भी यही समझना चाहिए।

आत्मा के पूर्णत्व का महान सिद्धान्त

हम उसी सर्वशक्तिमान की सन्तान हैं, हम उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिंगारियाँ हैं, तब भला हम ‘नगण्य’ क्यों कर हो सकते हैं? हम सब कुछ करने को तत्पर हों, हम सब कुछ कर सकते हैं और मनुष्य को सब कुछ करना चाहिए।

अतएव, मेरे बन्धुओ ! तुम अपनी सन्तानों को बाल्यकाल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और महत्त्वविधायक तत्त्व की शिक्षा देना शुरू कर दो। तुम उन्हें अद्वैतवाद की शिक्षा दो, यह कोई अनिवार्य नहीं है। उन्हें चाहे द्वैतवाद की शिक्षा दो या किसी 'वाद' की - मैंने यह पहले ही बता दिया है कि आत्मा की पूर्णता का यह अपूर्व सिद्धान्त सभी सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य है।

आत्मा की पूर्णता का यह विश्वास हमारे पूर्वजों के अन्तःकरण में विद्यमान था यह आत्मश्रद्धा ही वह मूल प्रेरणा थी। जिसने उन्हें सभ्यता की यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ते रहने की शक्ति प्रदान की और अब यदि हमारी अवनति हुई तो आपसे सच कहता हूँ- जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरावस्था आरम्भ हुई। आत्मविश्वास के होने का मतलब ही है ईश्वर में भी आत्मविश्वास।

आत्मविश्वास की अद्भुत शक्ति

मैंने पाश्चात्य जगत् में जाकर क्या सीखा? मैंने विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों की इस निरर्थक घोषणा में कि मनुष्य नितान्त पतित एवं पापी है, के पीछे वहाँ क्या देखा? मैंने देखा कि यूरोप और अमेरिका के राष्ट्रीय अन्तःकरण इस आत्मश्रद्धा से जनित प्रचण्ड सामर्थ्य से परिपूर्ण हैं।

एक अंग्रेज बालक दावे के साथ कह सकता है, “मैं अंग्रेज हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ।” एक अमेरिकन या यूरोपियन बालक इसी तरह की बात बड़े विश्वासपूर्वक कह सकता है। हमारे भारतवर्ष के बच्चे क्या इस तरह की बात कह सकते हैं? कदापि नहीं लड़कों की कौन कहे, लड़कों के पिता भी इस तरह की बात नहीं कह सकते। हम अपने आप पर से विश्वास खो बैठे हैं।

भारत का कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है, जो यह न कहता हो कि ईश्वर सबके भीतर विराजमान है और सब वस्तुओं में देवत्व का वास है। हमारे वेदान्त मतावलम्बियों में जो भिन्न-भिन्न मतवादी हैं, वे सभी यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा में पहले से पूर्ण पवित्रता, शक्ति और पूर्णत्व अन्तर्निहित है।

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है। यदि अब तक आत्मविश्वास की शिक्षा दी गई होती और उसका अभ्यास कराया गया होता तो मेरा विश्वास है कि जिन आपदाओं और बुराइयों से हम घिरे हुए हैं उसमें से अधिकांश

लोप हो गई होतीं। मानव जाति के सम्पूर्ण इतिहास में, समस्त महान पुरुषों एवं नारियों के जीवन में यदि कोई मानसिक शक्ति सबसे प्रबल दिखाई देती है तो वह है उसका आत्मविश्वास। “हमें महान् बनना है,” यह चेतना उनमें सदैव बनी रही और वे महान बन गए।

एक साधारण क्लर्क साम्राज्य का निर्माता बन गया

कोई मनुष्य नीचे से नीचे भी गिरता जाये तो एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब वह घोर निराशा में ऊपर की ओर उठने का प्रयास करेगा और स्वयं में विश्वास रखना सीखेगा। किन्तु हमारे लिए अच्छा होगा कि हम इस मन्त्र को प्रारम्भ से ही स्मरण रखें। आत्मविश्वास प्राप्त करने के लिए आखिर हम इन समस्त कटु अनुभवों के मध्य से गुजरें ही क्यों? हम देख सकते हैं कि मनुष्य-मनुष्य में अन्तर केवल इस विश्वास की भावना के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के कारण ही पड़ जाता है।

यहाँ इस भारत में एक अंग्रेज आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणों से भी उसने अपने सिर में गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमें असफल हुआ तब उसे विश्वास हुआ कि वह अवश्य ही किसी बड़े काम को करने के लिए पैदा हुआ है- वही मनुष्य इस ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिष्ठाता लार्ड क्लाइव था।

व्यावहारिक जीवन में अद्वैत

अपने पर विश्वास रखो और यदि तुम्हें सांसारिक ऐश्वर्य की आकांक्षा हो तो इस अद्वैतवाद को कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आयेगा। यदि विद्वान और बुद्धिमान होने की इच्छा है, तो उसी क्षेत्र में अद्वैतवाद का प्रयोग करो, तुम महामनीषी हो जाओगे। और यदि तुम मुक्ति-लाभ करना चाहते हो तो तुम्हें आध्यात्मिक स्तर पर इस अद्वैतवाद का प्रयोग करना होगा, तभी तुम ईश्वर हो पाओगे, परमानन्दस्वरूप निर्वाण लाभ करोगे।

अद्वैत के साथ एक यही खराबी रही कि इसका प्रयोग अब तक केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही किया गया है और अन्य कहीं नहीं। अब उसका प्रयोग व्यावहारिक जगत् में करने का समय आया है। अब उसे केवल रहस्य रखने से काम नहीं चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओं और जंगलों में, साधु-संन्यासियों के पास ही बँधा नहीं रहेगा- अब मनुष्य के दैनिक जीवन के कार्यों में उसकी उपयोगिता की आवश्यकता है। राजप्रासाद में, साधु-संन्यासियों की गुहा में, गरीबों की कुटिया में,

सर्वत्र, यहाँ तक कि रास्ते के भिखारी के जीवन में, सब कामों में उसकी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध होगी।

शिक्षा अथवा लौकिक ज्ञान का प्रसार

शिक्षा का व्यापक प्रसार : पाश्चात्य राष्ट्रों की प्रगति का रहस्य

पश्चिम और पूर्व में केवल इतना अन्तर है कि उनमें राष्ट्र भाव व्यापक है जबकि हममें नहीं। अर्थात् वहाँ शिक्षा और सभ्यता जनसाधारण तक प्रवेश कर चुकी है। अमेरिका और भारत के उच्च वर्ग तो एक समान हैं, किन्तु दोनों देशों के निम्न वर्गों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अंग्रेजों के लिए भारत को जीतना इतना सुगम क्यों हो सका? क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना सबमें जाग्रत है, हम में नहीं है।

हमारे यहाँ जब एक महापुरुष का तिरोधान हो जाता है, तब हमें दूसरे महापुरुष के आगमन के लिए शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जबकि वे एक महापुरुष के मरते ही दूसरा पैदा कर लेते हैं। वहाँ महापुरुषों की खान है। ऐसा क्यों है? क्योंकि उनके सामने महापुरुष उत्पन्न करने के लिए एक विशाल क्षेत्र विद्यमान रहता है। हमें बहुत छोटा क्षेत्र उपलब्ध है। हमारे राष्ट्र की जनसंख्या तीस कोटि होते हुए भी हमारे पास उन राष्ट्रों की अपेक्षा, जिनकी जनसंख्या केवल तीन, चार या छह करोड़ है, महापुरुष उत्पन्न करने वाला क्षेत्र सबसे छोटा है; क्योंकि उन राष्ट्रों में शिक्षित नर-नारियों की संख्या इतनी अधिक है। मेरे एक-एक शब्द को हृदयंगम कर लो। हमारे राष्ट्र की यह भारी कमी है और इसे दूर करना होगा। जनसाधारण को शिक्षित करो और ऊपर उठाओ। केवल तभी यह देश यथार्थ में राष्ट्र-रूप में खड़ा हो सकेगा।

तुमने पढ़ा होगा “मातृ देवो भव, पितृ देवो भव।” अर्थात् ‘माता को भगवान् समझो, पिता को भगवान् समझो’ किन्तु, मैं कहता हूँ— “दरिद्र देवो भव, मूर्ख देवो भव” – इन गरीबों, अनपढ़ों, अज्ञानियों एवं दुखियों को ही अपना भगवान मानो। स्मरण रखो, केवल इनकी सेवा ही तुम्हारा परम धर्म है।

वर्तमान शिक्षा : निषेधात्मक एवं निर्जीव

जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें अच्छा अंश बहुत ही कम और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए उसकी बुराइयाँ उसके भले अंश को पचा जाती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनाने वाली नहीं कही जा सकती। यह पूर्णतया निषेधात्मक शिक्षा मात्र है। अश्रद्धा पर आधारित कोई भी निषेधात्मक शिक्षा मृत्यु से

भी भयावह होती है। कोमलमति बालक पाठशाला में भर्ती होता है, तो सबसे पहली बात उसे सिखाई जाती है कि 'मेरा बाप मूर्ख है।' दूसरी बात यह सीखता है कि 'मेरा दादा पागल है।' तीसरी बात, 'मेरे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे सब मिथ्यावादी हैं।' और चौथी बात, 'मेरे समस्त पवित्र धर्मग्रन्थ गपोड़बाज है।' इस प्रकार की अश्रद्धापूर्ण बात सीखते-सीखते जब वह १६ वर्ष की अवस्था को प्राप्त करता है, तब वह अश्रद्धाओं का निर्जीव निरालम्ब ढेर मात्र रह जाता है।

हमें कभी यह नहीं बताया जाता कि हमारे देश में भी महापुरुष पैदा हुए हैं। हमें कोई भी ठोस ज्ञान नहीं सिखाया जाता। हम यह भी नहीं जानते कि अपने हाथ-पैर का ठीक प्रकार से उपयोग कैसे करें। हम अंग्रेजों के पूर्वजों से सम्बद्ध आँकड़ों और तथ्यों को ही रटते रहते हैं, किन्तु हमें अपने पूर्वजों के बारे में कुछ भी पता नहीं रहता। हमने केवल दुर्बलता ही सीखी है। एक पराजित जाति के नाते हम यह विश्वास करने लगे कि हम दुर्बल हैं और हमें कुछ करने की स्वाधीनता नहीं है। अतः इसका परिणाम और हो ही क्या सकता है कि हम पूर्णतः श्रद्धाविहीन हो जायें।

शिक्षा : चरित्र-निर्माणकारी विचारों का सम्मिश्रण

केवल जानकारी का वह ढेर 'शिक्षा' नहीं कहला सकता जिसे तुम्हारे दिमागों में ढूँस-ढूँसकर भर दिया जाता है और जो बिना आत्मसात हुए वहाँ जीवनभर उपद्रव मचाया करता है। हमें विचारों को इस प्रकार आत्मसात कर लेना चाहिए कि उनके द्वारा हमारा जीवन-निर्माण हो सके, हमारा चारित्रिक गठन हो सके और हम मनुष्य बन सकें। यदि तुम केवल पाँच ही भावों को आत्मसात कर तदनुसार अपने जीवन और चरित्र का गठन कर सको तो उस मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित हो, जिसने एक पूरा का पूरा पुस्तकालय कण्ठस्थ कर रखा हो।

अतः हमारा लक्ष्य यही है कि हमारे देश की सम्पूर्ण लौकिक और पारमार्थिक शिक्षा हमारे हाथों में हो और यह शिक्षा हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हो और जहाँ तक सम्भव हो सके, राष्ट्रीय पद्धति से ही दी जानी चाहिए।

गरीबों को पढ़ाने की कठिन समस्या

गरीबों को शिक्षित बनाने के मार्ग में बड़ी कठिनाई यही है।

कल्पना के लिए यदि हम प्रत्येक ग्राम में निःशुल्क विद्यालय खोलने की स्थिति में पहुँच भी जायें तो भी गरीब लड़के उस विद्यालय में आने की अपेक्षा आजीविका

के लिए हल चलाना ज्यादा पसन्द करेंगे। न तो हमारे पास पर्याप्त धन है और न हम उन्हें विद्यालयों की ओर आकृष्ट करने में ही सफल हो सकते हैं। अतः, इस समस्या का कोई हल नहीं दिखता, किन्तु मैंने उसका एक हल खोजा है जो इस प्रकार है -

समस्या का हल

संन्यासी प्रत्येक द्वार तक शिक्षा को ले जाये

यदि रोगी चिकित्सक के पास जाने को तैयार नहीं तो चिकित्सक ही रोगी के पास क्यों न जायें? यदि गरीब लोग शिक्षा के निकट नहीं आ सकते तो शिक्षा को ही उनके लिए खेतों पर, उनकी फैक्ट्री में तथा सर्वत्र जाना होगा।

हमारे देश में सहस्रों ध्येयनिष्ठ एवं सर्वस्व त्यागी संन्यासियों का वर्ग है जो गाँव-गाँव जाकर धर्म की शिक्षा देते हैं। यदि उनमें से कुछ को लौकिक विद्याओं का शिक्षण देने के लिए तैयार कर लिया गया तो वे ग्राम-ग्राम, द्वार-द्वार जाकर न केवल धर्मोपदेश कर सकेंगे अपितु शिक्षादान भी करेंगे।

अतः, उन लोगों को ग्राम-ग्राम जाकर प्रत्येक घर पर केवल धर्म को ही नहीं पहुँचाना चाहिए बल्कि शिक्षा को भी पहुँचाना चाहिए।

अब कल्पना करो कि समस्त ग्रामवासी अपने दिनभर के काम से निपट कर गाँव वापस आये और किसी पेड़ के नीचे या कहीं और बैठकर हुक्का पी रहे हैं एवं बातों में समय काट रहे हैं। कल्पना करो कि ऐसे समय दो शिक्षित संन्यासियों ने उन्हें वहाँ घेर लिया और एक कैमरे के द्वारा ज्योतिर्विज्ञान के भूगोल एवं इतिहास आदि को चित्रों के रूप में उनके सामने प्रस्तुत किया। इस प्रकार भूगोल, मानचित्रों आदि तथा मौखिक बातचीत के द्वारा उन्हें कितना अधिक ज्ञान प्रदान किया जा सकता है।

केवल आँख ही ज्ञान प्राप्ति का अकेला द्वार नहीं है, कान भी वह काम कर सकता है। इस प्रकार उनमें नये-नये विचारों, नैतिकता तथा अपने उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का संचार होगा। यहाँ हमारा कार्य सम्पन्न हो जाता है।

उन्हें विचार दिये जाने चाहिए, उनकी आँखों के समक्ष चारों ओर के जगत् में चलने वाले व्यापार का चित्र खड़ा करना चाहिए, तब वे अपने उद्धार के मार्ग का स्वयं निर्माण कर लेंगे।

हमारा कार्य है कि हम रसायनों को एकत्र ला दें, उनकी सम्मिश्रण प्रक्रिया अपने आप ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलेगी। हम केवल उनके दिमागों में विचार भर दें। शेष कार्य वे स्वयं कर लेंगे। यही है वास्तविक अर्थों में लोक-शिक्षण।

धार्मिक उमंग से बड़ा काम होना

किन्तु संन्यासी इतना त्याग क्यों करेंगे? ऐसा कार्य अपने ऊपर क्यों लेंगे? केवल धार्मिक उमंग के कारण। प्रत्येक नयी धार्मिक लहर के लिए एक नया केन्द्र होना आवश्यक होता है। पुराने धर्म में पुनरुज्जीवन का संचार एक नये केन्द्र द्वारा ही हो सकता है। अपने 'वादों' और 'सिद्धान्तों' को ताक में रख दो, वे कुछ काम नहीं आयेंगे। इस समय एक चरित्रवान्, एक जीवननिष्ठ मनुष्य को ही केन्द्र बनकर समाज का नेतृत्व करना होगा। वही केन्द्र है, जिसके चारों ओर अन्य समस्त शक्तियाँ एकत्र होंगी और समाज पर एक ज्वार-तरंग के समान छा जायेंगी तथा समाज की समस्त मलीनताओं को बहा ले जायेगी।

किसी लकड़ी के टुकड़े को उसके रेशों के अनुकूल दिशा में काटना अधिक सरल होता है। इसी प्रकार इस प्राचीन हिन्दू धर्म का पुनः संस्कार भी हिन्दू धर्म के माध्यम से ही हो सकता है, न कि इन नवीनता लोभी सुधारवादी आन्दोलनों से।

साथ ही इन सुधारकों को अपने अन्दर पूर्व और पश्चिम दोनों की संस्कृति का समन्वय करना होगा।

सबसे पहले हमें अपनी जाति को आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। तुम्हें इस विषय पर सोचना-विचारना होगा, इस पर तर्क-वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा, दिमाग लगाना होगा और अन्त में, उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा। तब तक जाति का उद्धार होना असम्भव है। और अब इसके लिए आवश्यकता है एक संगठन की।

सर्वत्र कर्मचेतना के केन्द्र स्थापित हों

यह एक बहुत बड़ी योजना है, बहुत बड़ी परिकल्पना है। मैं नहीं कह सकता कि यह कार्यरूप में परिणत होगी या नहीं और होगी तो कब तक? पर उसका विचार छोड़कर हमें यह काम फौरन शुरू कर देना चाहिए। लेकिन कैसे? किस तरह से काम में हाथ लगाया जाये? उदाहरण के लिए, मद्रास का ही काम ले लीजिए। सबसे पहले हमें एक मन्दिर की आवश्यकता है; क्योंकि सभी कार्यों में हिन्दू प्रथम स्थान धर्म को ही देते हैं। आप कहेंगे कि ऐसा होने से हिन्दुओं के विभिन्न मतावलम्बियों में परस्पर झगड़े होने लगेंगे। पर मैं आपको किसी मत विशेष के अनुसार वह मन्दिर बनवाने को नहीं कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेदभावों से परे हो उसका एकमात्र उपास्य 'ॐ' हो जो कि हमारे सभी धर्म सम्प्रदायों का प्रतीक है।

यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा सम्प्रदाय हो, जो ओंकार को न माने तो समझ लीजिए कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। उस मन्दिर में सब लोग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही उस हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकेंगे, पर यह मन्दिर सबके मिलन का केन्द्र होगा। तुम भले ही अन्यत्र जाकर अपनी उचित श्रद्धा के अनुकूल, मूर्ति अथवा प्रतीक की उपासना करो, किन्तु इस मन्दिर में आकर अपने से भिन्न मत रखने वालों से झगड़ा मत करो।

इस केन्द्र में वे ही धार्मिक तत्व समझाये जायेंगे, जो समस्त सम्प्रदायों के अधिष्ठान हैं। किन्तु साथ ही हर सम्प्रदाय वाले को यहाँ आकर अपने सिद्धान्तों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। पर वे मतभेद की, झगड़े वाली बातें बताने या सिखाने नहीं आयेंगे। बोलो तुम क्या बोलते हो? संसार तुम्हारी सम्मति जानना चाहता है, पर उसे यह सुनने का समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़ो तुम अपनी ही ओर ध्यान दो।

लौकिक एवं धार्मिक आचार्यों का प्रशिक्षण

इस मन्दिर के साथ एक और संस्था हो, जिसमें ऐसे शिक्षक तैयार किये जायें जो लोगों में धर्म-प्रचार करने एवं उन्हें लौकिक शिक्षा देने के हेतु सर्वत्र भ्रमण करते रहें। उन्हें दोनों काम करने होंगे। जैसे हम धर्म का प्रचार द्वार-द्वार जाकर करते हैं वैसे ही हमें लौकिक ज्ञान का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम आसानी से हो सकता है। इन्हीं धर्मप्रचारकों तथा व्याख्यानदाताओं के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायेगा; और क्रमशः अन्यान्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर प्रतिष्ठित होंगे, और यह कार्य समस्त भारत को व्याप्त कर लेगा। यही मेरी योजना है।

यह योजना तुमको बड़ी भारी मालूम होगी, पर इसकी इसी समय आवश्यकता है। तुम यह पूछ सकते हो इस काम के लिए धन कहाँ से आयेगा? वास्तविक आवश्यकता धन की नहीं है। धन का कोई महत्त्व नहीं। पिछले बारह वर्षों में मुझे कभी पता नहीं रहा कि अगले समय का भोजन कहाँ से आयेगा, किन्तु धन या कोई भी वस्तु को जिसकी मुझे इच्छा हो मेरे निकट आना ही चाहिए; क्योंकि वे मेरे गुलाम हैं न कि मैं उनका गुलाम हूँ। धनादि प्रत्येक चीज को आना ही होगा, 'आना ही होगा', यही मेरा मत है।

‘निष्ठावान व्यक्ति चाहिए’

अब प्रश्न यह है कि काम करने वाले लोग कहाँ हैं? मूल प्रश्न यही है।

मनुष्यों की, केवल मनुष्यों की आवश्यकता है। और सब कुछ हो जायेगा, किन्तु आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रीसम्पन्न और पूर्ण प्रामाणिक नवयुवकों की। मेरी आशाएँ इस नवोदित पीढ़ी में, आधुनिक पीढ़ी में केन्द्रित हैं। उसी में से मेरे कार्यकर्ता निर्मित होंगे। वे सिंह के समान पूरी समस्या को हल कर देंगे। मैंने अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और अपना सम्पूर्ण जीवन उसके लिए समर्पित कर दिया है। यदि मैं सफलता प्राप्त नहीं कर पाता तो उसे पूरा करने के लिए कोई अन्य आयेगा और मुझे संघर्ष करते रहने में ही सन्तोष प्राप्त होगा।

तुम सब अपने में यह विश्वास रखो कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। बस तभी तुम सारे भारत को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर तो हम दुनिया के सभी देशों में जायेंगे और हमारे भाव उन अनेक शक्तियों के अंश स्वरूप हो जायेंगे, जिनके द्वारा संसार का प्रत्येक राष्ट्र ऊपर उठ रहा है। हमें भारत में बसने वाली सभी जातियों के अन्दर प्रवेश करना होगा, इसके लिए हमें यत्न करना होगा इसके लिए मुझे युवक चाहिए। वेदों में कहा है, “तरुण, बलशाली, स्वस्थ एवं तीव्र मेधा वाले ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।”

तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसलिए, मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो। काम करने का यही समय है। इसलिए अभी अपने भाग्य का निर्णय कर लो और काम में लग जाओ; क्योंकि जो फूल बिल्कुल ताजा है, जो हाथों से मसला नहीं गया है और जिसे सूँघा नहीं गया है, वही भगवान् के चरणों पर चढ़ाया जाता है; उसे ही भगवान ग्रहण करते हैं।

इसलिए, आओ हम एक महान ध्येय को अपनायें और उसके लिए अपना जीवन समर्पित कर दें। यही हमारा व्रत हो और वे परमेश्वर भगवान श्रीकृष्ण, जो हमारे शास्त्रों के घोषणानुसार अपने प्रियजनों के परित्राण व उद्धार के लिए बार-बार आविर्भूत होते हैं, हम पर आशीर्वाद की वर्षा करें एवं हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हों।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

(कठोपनिषद् १.३.४)

उठो, जागो और जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो, रुको मत।

जो लोग इस राष्ट्र की सेवा करने की इच्छा, आकांक्षा रखते हैं, उन्हें उसके ध्येय, लक्ष्य, नियत कर्तव्य एवं सन्देश का ज्ञान होना चाहिए और उन्हें अपने जीवन के कर्तव्य-क्षेत्र को भी भली प्रकार समझ लेना चाहिए। उन्हें उस क्षेत्र के प्रति सजग-सचेत होना होगा, जिसमें उन्हें कार्य करना है।

— माननीय एकनाथजी शानडे (सेवा ही साधना)

हे हिन्दू राष्ट्र उतिष्ठत ! जाग्रत !!



भाग - 2

सम्भाषण,
प्रवचन
एवं लेखों
से
संकलित

हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है
 जिससे चित्र-निर्माण हो,
 मानसिक शक्ति बढ़े,
 बुद्धि विकसित हो
 और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे।

वे बच्चे धन्य हैं
 जो माता-पिता को ईश्वर का रूप मानते हैं।

गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ
 और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है।
 परमात्मा को पाना है, तो मानव की सेवा करो।
 मानव शरीर भगवान का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है।

जिनकी माताएँ शिक्षित,
 नीति परायण, धार्मिक होती हैं
 उन्हीं के घर में महापुरुष जन्म लेते हैं।
 परोपकार करना ही जीवन है,
 परोपकार न करना ही मृत्यु है।
 मैं सभी धर्मों को सत्य के रूप में स्वीकार करता हूँ।
 धर्म को लेकर कभी विवाद न करो।

हिन्दू धर्म की मर्यादाएँ^१

अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में लाने के विषय में स्वामी विवेकानन्दजी के मतामत जानने के लिए सम्पादक ने मुझे आदेश दिया था कि मैं उनसे जाकर मिलूँ। एक दिन सायंकाल गंगाजी में नौका पर बैठकर उनके साथ इस विषय पर वार्तालाप का सुयोग मुझे मिला। उस समय संध्या हो गई थी। बेलूर-स्थित श्रीरामकृष्ण मठ के घाट के पास ही हमने नौका खड़ी की थी। स्वामीजी मठ से आये और नौका में बैठकर मेरे साथ वार्तालाप करने लगे।

स्थान और काल दोनों ही परम स्मरणीय थे। ऊपर आकाश में तारे नाच रहे थे, चारों ओर कल-कल निनादिनी जाह्नवी बह रही थी; और एक ओर स्पष्ट रूप से आलोकित मठ दीप्त हो रहा था; उसके पीछे ताल और बड़े-बड़े सायेदार वृक्ष शान्त और मौन-खड़े थे।

मैंने पहले वार्तालाप शुरू किया। मैंने कहा, “स्वामीजी जिन लोगों ने हिन्दू धर्म को छोड़कर अन्य धर्म को अपना लिया है, उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लाने के विषय में आपका क्या मत है, यही जानने के लिए मैं आपसे मिलने आया हूँ। आपके मत में क्या उनको फिर से हिन्दू धर्म में लाया जाना चाहिए?”

स्वामीजी बोले, “अवश्य। उनको अवश्य लाया जा सकता है, और लाना भी चाहिए।”

एक मुहूर्त के लिए स्तब्ध रहकर गम्भीर विचार के बाद वे पुनः कहने लगे और भी एक बात है, उनको फिर से न लेने पर हमारी संख्या दिनोंदिन घटती जायेगी। प्राचीनतम मुसलमान इतिहासकार फरिस्ता के मतानुसार, इस देश में मुसलमानों के प्रथम आगमन के समय यहाँ के हिन्दुओं की संख्या ६० करोड़ थी। अब हम बीस करोड़ में उतर आये हैं। फिर यह भी बात है कि किसी एक व्यक्ति के हिन्दू समाज को त्याग देने पर इस समाज का न केवल एक व्यक्ति कम ही नहीं हो जाता है, बल्कि उसके शत्रु की संख्या में एक की वृद्धि हो जाती है।

“फिर जो लोग हिन्दू धर्म को त्यागकर मुसलमान या ईसाई बन गए हैं, उनमें से अधिकांश लोग तलवार के बल पर उन धर्मों को ग्रहण करने को बाध्य किये गए हैं, और

आजकल जो मुसलमान व ईसाई हैं, वे अधिकांशतः इन्हीं लोगों के वंशज हैं। इनके हिन्दू धर्म में लौटने के मार्ग में कोई आपत्ति उठाना अथवा बाधा डालना स्पष्टतः अन्याय है। और तुम क्या उन विजातियों के सम्बन्ध में भी पूछ रहे थे, जो हिन्दू समाज के अन्तर्गत कभी नहीं थे? अतीत काल में क्या ऐसे झुण्ड के झुण्ड विधर्मियों को हिन्दू धर्म में नहीं ले लिया गया था? वह प्रक्रिया अब भी जारी रखने में क्या आपत्ति हो सकती है?”

“मेरे अपने मत से यह कथन वनवासियों, पड़ोसी जातियों तथा मुस्लिम शासन के पूर्व के प्रायः हमारे समस्त विजेतागण पर लागू होता है, अपितु उन समस्त जातियों के बारे में भी सत्य है जिनकी विशेष प्रकार से उत्पत्ति का वर्णन पुराण-ग्रन्थों में किया गया है। मेरे मत में ये सब लोग विधर्मी थे और उनको हिन्दू बना लिया गया था।”

“जो लोग स्वेच्छा से दूसरे धर्म में चले गए थे, पर अब फिर से हिन्दू धर्म में आना चाहते हैं, उनके लिए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान निस्सन्देह उचित है; पर जिनका परधर्म-ग्रहण जोर-जबरदस्ती के कारण हुआ था, जैसे कश्मीर और नेपाल में, अथवा जो लोग कभी हिन्दू नहीं थे, ऐसे लोग यदि हिन्दू समाज में आना चाहते हैं, तो उन सबके लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं होना चाहिए।”

मैंने कुछ साहस करके पूछा “स्वामीजी, पर इन लोगों की जाति कौन-सी होगी? उनका किसी-न-किसी जाति के अन्तर्गत रहना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा वे इस विशाल हिन्दू समाज में समरस हो कभी उससे एक न हो सकेंगे। हिन्दू समाज में उनका यथार्थ स्थान कहाँ पर है?”

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, “जो लोग पहले हिन्दू थे, वे अवश्य ही अपनी पहली जाति में लौट आयेंगे, और जो नये आयेंगे, वे अपनी जाति आप ही बना लेंगे।”

वे कहते चले, “तुम्हें स्मरण होगा कि वैष्णवों में यह बात पहले से ही पाई जाती है। हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में से जिन्होंने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्होंने तथा अहिन्दुओं ने वैष्णवों के आश्रय में आकर अपनी एक स्वतन्त्र हिन्दू जाति बना ली, और यह जाति भी न कोई तुच्छ थी न हीन ही, वह तो अच्छी शिष्ट जाति ही बनी। आचार्य रामानुज से लेकर बंगाल के श्री चैतन्य महाप्रभु तक समस्त वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।”

मैंने पूछा, “इस नवीन जाति का विवाह-संस्कार आदि कहाँ होगा?” स्वामीजी ने शान्त भाव से उत्तर दिया, “क्यों, आजकल जैसा चल रहा है, वैसा ही वे

आपस में विवाह करेंगे।’

मैंने पूछा, “फिर नामकरण की भी बात है। मेरी राय में अहिन्दू तथा जिन्होंने स्वधर्म का त्यागकर अहिन्दू नाम रख लिया था, उन दोनों का नया नामकरण होना उचित है। उनका आप जाति-सूचक नाम देंगे या अन्य कोई?”

स्वामीजी सोचते हुए कहने लगे, “हाँ, नाम का भी काफी महत्त्व है।” वे इस विषय में और अधिक कुछ नहीं बोले। परन्तु, उसके बाद मैंने जो प्रश्न किया उससे वे मानो उद्दीप्त से हो उठे। मैंने पूछा, “स्वामीजी ये नवागत लोग हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं में से अपने लिए किसी उपासना-प्रणाली का निर्वाचन स्वयं ही कर लें, या आप उनके लिए किसी योग्य उपासना-प्रणाली का निर्देश करेंगे?”

स्वामीजी बोले, “यह भी कोई पूछने की बात है? वे अपने पथ का चयन आप ही कर लेंगे; क्योंकि स्वयं चयन न करना हिन्दू धर्म के मूलतत्त्व के विरुद्ध है। हमारे धर्म का सार तो यही है कि प्रत्येक को अपने इष्ट के चयन का अधिकार है।”

स्वामीजी की इस बात को मैंने विशेष महत्त्वपूर्ण समझा। कारण, मेरी समझ में मेरे सम्मुख इस महापुरुष ने वैज्ञानिक बुद्धि और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से हिन्दू धर्म के साधारण आधारों की आलोचना और अध्ययन में संसार के अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक समय बिताया है और यह इष्ट निर्वाचन की स्वाधीनता का सिद्धान्त इतना उदार है कि सारा संसार इसमें स्थान पा सकता है।

इसके बाद दूसरे विषयों पर वार्तालाप हुआ। अन्त में प्रेमपूर्वक मुझसे विदा लेकर वे महान् धर्माचार्य अपनी लालटेन उठाकर मठ लौट गये और मैं भी गंगा के ऊपर से, उसकी तरंगों पर हिलती-डुलती विभिन्न आकारों की नौकाओं के बीच से होते हुए अपने कलकत्ता स्थित निवास स्थान पर लौट आया।

अपने धर्म की रक्षा के लिए डट जाओ

“भाई सिन्हा, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी माता का अपमान करे तो तुम क्या करोगे?”

“श्रीमन् मैं उस पर टूट पड़ूँगा, और उसको एक अच्छा पाठ पढ़ा दूँगा।”

“बहुत ठीक”! उन्होंने कहा, “लेकिन अब यदि यही आत्मीयता तुममें अपने धर्म, जो इस राष्ट्र की सच्ची जननी है, के प्रति होती, तो तुम किसी भी हिन्दू बन्धु का ईसाई धर्म में परिवर्तन देखना सहन नहीं कर पाते। तिस पर भी, तुम यह नित्य प्रति होता देख रहे हो और

तुम उसकी ओर से पूर्णतया उदासीन हो? तुम्हारी श्रद्धा कहाँ है? तुम्हारी देशभक्ति कहाँ गई? तुम्हारी आँखों के सामने नित्य प्रति ईसाई प्रचारक हिन्दू धर्म को गाली देते हैं और तब भी तुममें से कितने लोग हैं जो उसकी रक्षा के लिए खड़े होने को तैयार हैं, जिनका रक्त सात्त्विक क्षोभ से खौलने लगता है?”

भारतीय नारी : उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य^१

हमारे प्रतिनिधि लिखते हैं -

आखिर एक रविवार को बड़े सवेरे ही मैं सम्पादक महोदय का आदेश पालन करने में समर्थ हुआ। भारतीय नारियों की अवस्था और उनके भविष्य के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का मतामत जानने के लिए मैंने उनसे हिमालय की एक सुन्दर उपत्यका में भेंट की।

मैंने जब स्वामीजी को अपने आने का उद्देश्य बतलाया तो वे बोले, “चलो थोड़ा टहल आयें।” हम लोग उसी समय बाहर निकल पड़े। अहा! कैसा मनोहर दृश्य था। ऐसा दृश्य संसार में शायद ही हो।

कहीं धूप और कहीं छाया से ढँके मार्गों को काटते हुए हम शान्तिपूर्ण ग्रामों में चले जा रहे थे। कहीं ग्रामीण बच्चे आनन्द से खेलकूद कर रहे थे, और कहीं चारो ओर सुनहले खेत लहलहा रहे थे। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष ऐसे दीखते थे, मानो वे नीलगगन को पार कर उसके परे चले जाना चाहते हों। खेतों में कहीं पर कुछ कृषक-बालाएँ हाथों में हँसिया लिए शीत ऋतु के लिए बाजरे के भुट्टे काटकर इका कर रही थीं, तो अन्य कहीं सेवों की एक सुन्दर वाटिका दिखाई देती थी, जिसमें वृक्षों के नीचे लाल फलों के ढेर बड़े ही सुहावने लगते थे। फिर कुछ क्षण बाद ही हम खुले मैदान में आ पड़े और हमारे सामने हिमाच्छादित शुभ्र शिखर अग्रमाला को चीरकर अद्भुत सौन्दर्य के साथ विराजमान् थे।

अन्त में स्वामीजी ने मौन भंग करते हुए कहा, “आर्यों और सेमिटिक लोगों के नारी-सम्बन्धी आदर्श सदैव एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत रहे हैं। सेमिटिक लोग स्त्रियों की उपस्थिति को उपासना-विधि में घोर विघ्नस्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार स्त्रियों को किसी प्रकार के धर्म-कर्म का अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि आहार के लिए पक्षी मारना भी उनके लिए निषिद्ध है। आर्यों के अनुसार तो सहधर्मिणी के बिना पुरुष कोई धार्मिक कार्य नहीं कर सकता”

ऐसी अप्रत्याशित और स्पष्ट बात से मैं तो आश्चर्यचकित हो गया। मैंने पूछा, “किन्तु स्वामीजी, क्या हिन्दू धर्म आर्य धर्म का अंग विशेष नहीं है?”

स्वामीजी ने शान्त स्वर में कहा, “आधुनिक हिन्दू धर्म अधिकांशतः एक पौराणिक धर्म है, जिसका उद्गम बौद्धकाल के पश्चात हुआ है। दयानन्द सरस्वती ने यह दर्शाया कि यद्यपि गार्हपत्य अग्नि में आहुति प्रदान करने की जो वैदिक क्रिया है, उसके अनुष्ठान में सहधर्मिणी की उपस्थिति नितान्त अनिवार्य है, पर तो भी वह शालग्रामशिला अथवा गृह-देवता की मूर्ति को स्पर्श नहीं कर सकती; क्योंकि इस प्रकार की पूजा का प्रचलन पौराणिक काल के उत्तरार्ध से हुआ है।”

“अतः, आपके अनुसार हमारे देश में पाया जाने वाला स्त्री-पुरुष के अधिकारों का भेद पूर्णतः बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण है?”

हाँ! जहाँ कहीं भी यह भेद पाया जाता है, वहाँ तो मैं ऐसा ही सोचता हूँ। पाश्चात्य आलोचना की आकस्मिक बाढ़ से प्रभावित होकर और पाश्चात्य नारियों की तुलना में अपने देश की नारियों की अवस्था भिन्न देखकर हम भारत में नारी के प्रति असमानता के उनके आरोप को चुपचाप स्वीकार न कर लें। विगत कई सदियों से भारत में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता रहा है, जिससे हम स्त्रियों का विशेष संरक्षण करने को बाध्य हुए हैं। इस एक तथ्य के, न कि स्त्री जाति के प्रति हीन दृष्टि के मिथ्या आरोप के प्रकाश में हम अपनी प्रथाओं के यथार्थ स्वरूप को समझ सकेंगे।

“स्वामीजी, तो क्या आप भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा से पूर्णतः सन्तुष्ट हैं?”

“कदापि नहीं। पर स्त्रियों के सम्बन्ध में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार बस उनको शिक्षा देने तक ही सीमित रहना चाहिए। उनमें ऐसी योग्यता ला देनी होगी जिससे वे अपनी समस्याओं को स्वयं ही अपने ढंग से सुलझा सकें। अन्य कोई उनके लिए यह कार्य नहीं कर सकता, और करने का प्रयत्न भी उचित नहीं है। हमारी भारतीय स्त्रियाँ अपनी समस्याओं को हल करने में संसार के किसी भी भाग की स्त्रियों से पीछे नहीं हैं।”

“स्वामीजी, क्या आप बतलायेंगे कि हमारे देश में बौद्धधर्म के द्वारा यह दोष किस प्रकार पैदा हुआ जिसका अभी आपने उल्लेख किया?”

स्वामीजी! “इस दोष का जन्म बौद्धधर्म के पतन-काल में हुआ। प्रत्येक आन्दोलन किसी असाधारण विशेषता के कारण ही संसार में सफलता प्राप्त करता है, पर जब उसका पतन होता है, तब उसकी यह अभिमानास्पद विशेषता ही उसकी दुर्बलता का

एक मुख्य उपादान बन जाती है। नर श्रेष्ठ भगवान् बुद्ध में संगठन करने की अद्भुत शक्ति थी, और इसी शक्ति के बल पर उन्होंने संसार को अपना अनुगामी बनाया था। किन्तु, उनका धर्म केवल संन्यासियों के लिए ही उपयोगी था। अतः, उसका एक कुफल यह हुआ कि संन्यासी की वेश-भूषा तक सम्मानित होने लगी। फिर उन्होंने सर्वप्रथम मठ-प्रथा अर्थात् धर्म-संघ में रहने की प्रथा का प्रवर्तन किया। इसके लिए उन्हें बाध्य होकर स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न स्थान देना पड़ा; क्योंकि प्रमुख भिक्षुणियाँ कुछ विशिष्ट मठ-अध्यक्षों की अनुमति के बिना किसी भी महत्वपूर्ण कार्य में हाथ नहीं डाल सकती थीं। इससे उनके तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति तो अवश्य हुई, अर्थात् उनके धर्म-संघ की एकसूत्रता बनी रही, किन्तु उसके दूरगामी परिणाम अनिष्ट हुए।”

“परन्तु स्वामीजी, संन्यास धर्म तो वेदविहित है।”

“अवश्य, संन्यास वेद-प्रतिपादित है, पर वहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं किया गया है। क्या तुम्हें स्मरण है कि विदेहराज जनक की राजसभा में किस प्रकार धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर महर्षि याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद हुआ था? इस वाद-विवाद में ब्रह्मवादिनी (गार्गी) ने प्रधान भाग लिया था। उसने कहा था, “मेरे दो प्रश्न मानो कुशल धनुर्धारी के हाथ में दो तीक्ष्ण बाण हैं।” वहाँ पर उसके स्त्री होने के सम्बन्ध में कोई प्रसंग तक नहीं उठाया गया है। तुम्हें विदित ही होगा कि प्राचीन गुरुकुलों में बालक और बालिकाएँ समान रूप से शिक्षा ग्रहण करती थीं। इससे अधिक साम्यभाव और क्या हो सकता है? हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़कर देखो- शकुन्तला का आख्यान पढ़ो, और फिर देखो, टेनिसन की ‘राजकुमारी’ में हमारे लिए क्या कोई नयी शिक्षाप्रद बात प्राप्त हो सकती है?”

“स्वामीजी! आपमें हमारी अतीत-गौरव-गरिमा को इतने सुन्दर ढंग से प्रकट करने की बड़ी अद्भुत क्षमता है।”

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, “सम्भव है, इसका कारण यह हो कि मैंने पृथ्वी के दोनों गोलाद्धों का पर्यटन किया है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया, चाहे वह उसकी कल्पना ही क्यों न हो, उस जाति में स्त्री-जाति के लिए इतना अधिक सम्मान और श्रद्धा है, जिसकी तुलना संसार में हो ही नहीं सकती। पाश्चात्य स्त्रियाँ ऐसे कई कानूनी बन्धनों में जकड़ी हुई हैं, जिनसे भारतीय स्त्रियाँ सर्वथा मुक्त एवं अपरिचित हैं। भारतीय समाज में निश्चय ही दोष और अपवाद दोनों हैं, पर यही स्थिति पाश्चात्य समाजों की भी है। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि संसार के सभी भागों में

प्रीति, कोमलता और साधुता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न चल रहे हैं, और विभिन्न जातीय प्रथाएँ इन्हीं को यथासम्भव प्रकट करने की प्रणाली मात्र हैं। जहाँ तक गृहस्थ धर्म का सम्बन्ध है, मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि भारतीय प्रणाली में अन्य देशों की अपेक्षा अनेक सद्गुण विद्यमान हैं।”

“स्वामीजी, तो क्या भारतीय स्त्री-जीवन के सम्बन्ध में हम इतने सन्तुष्ट हैं कि हमारे समक्ष उसकी कोई भी समस्याएँ नहीं है?”

“क्यों नहीं, बहुत-सी समस्याएँ हैं- और ये समस्याएँ बड़ी गम्भीर हैं; परन्तु इनमें से कोई ऐसी नहीं है, जो ‘शिक्षा’ के द्वारा हल न हो सके। पर हाँ, शिक्षा की सच्ची कल्पना हममें से कदाचित् ही किसी को हो।”

“स्वामीजी, शिक्षा की आप क्या परिभाषा देते हैं?”

स्वामीजी ने स्मित-हास्य से कहा, “मैं परिभाषाएँ देने के विरुद्ध हूँ। पर इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि **सच्ची शिक्षा वह है, जिससे मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास हो।** वह केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है- व्यक्ति में योग्य कर्म की आकांक्षा एवं उसको कुशलतापूर्वक करने की पात्रता उत्पन्न करना। हम चाहते हैं कि भारत की स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाये, जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्य को भली-भाँति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई तथा मीराबाई आदि भारत की महान् देवियों द्वारा चलायी गई परम्परा को आगे बढ़ा सकें एवं वीर प्रसूता बन सकें। भारत की स्त्रियाँ पवित्र और त्यागमूर्ति हैं; क्योंकि उनके पास वह बल और शक्ति है, जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा के चरणों में सर्वस्वार्पण करने से प्राप्त होता है।”

“स्वामीजी, इससे प्रतीत होता है कि आपके विचारानुसार शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का भी समावेश होना चाहिए।”

स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, “मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। हाँ, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ धर्म से मेरा मतलब मेरा, तुम्हारा या अन्य किसी का उपासना-मत नहीं है। मेरे मत से, अन्य विषयों के समान इस सम्बन्ध में भी शिक्षक को छात्र के भाव और धारणा के अनुसार शिक्षा देना प्रारम्भ करना चाहिए तथा उसे उन्नत करने के लिए ऐसा सहज पथ दिखा देना चाहिए, उसे सबसे कम बाधाओं का सामना करना पड़े।”

“क्या ब्रह्मचर्य-पालन को अत्यधिक धार्मिक महत्त्व देने का अर्थ मातृत्व और

पत्नीत्व को समाज में उनके सर्वोच्च स्थान से वंचित कर, वहाँ उस स्त्रीवर्ग को प्रतिष्ठित करना नहीं है, जो पवित्र दायित्वों से परे भागती हैं?”

“तुम्हें स्मरण रहना चाहिए कि हमारे धर्म में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए ब्रह्मचर्य की महिमा समान रूप से बतायी गई है। तुम्हारे प्रश्न से यह भी ज्ञात होता है कि तुम्हारे मन में कुछ भ्रम फैला हुआ है। हिन्दू धर्म में मानवात्मा का केवल एक ही कर्तव्य बतलाया गया है और वह है इस अनित्य और नश्वर जगत् में नित्य एवं शाश्वत पद की प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए कोई एक ही बँधा हुआ मार्ग नहीं है। विवाह हो या ब्रह्मचर्य, पाप हो या पुण्य, ज्ञान हो या अज्ञान—इनमें से प्रत्येक की सार्थकता हो सकती है, यदि वह इस चरम लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायता करे। बस यहीं पर हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म में महान् अन्तर है; क्योंकि बौद्ध धर्म में जीवन का प्रधान लक्ष्य और वह भी मोटे तौर पर केवल एक ही मार्ग से बाह्य जगत् की क्षणिकता का अनुभव कर लेना मात्र है। क्या तुम्हें महाभारत में वर्णित उस युवक योगी का वृत्तान्त विदित है, जिसने अपने क्रोध से उत्पन्न अपनी प्रबल मानसिक शक्ति के प्रभाव से एक कौए और बगुले को भस्म कर यौगिक शक्तियों के प्रदर्शन में धन्यता मानी थी? क्या तुम्हें स्मरण है कि एक दिन यही योगी किसी नगर में पहुँचकर देखता है कि एक स्त्री अपने रोगी पति की सेवा—सुश्रूषा में निरत है, तथा एक धर्म नामक कसाई माँ को बेच रहा है, परन्तु इन दोनों ने अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करके पूर्ण ज्ञान का साक्षात्कार कर लिया था?”

“तो स्वामीजी, आपका इस देश की स्त्रियों के लिए क्या सन्देश है?

“वही, जो पुरुषों के लिए है। भारत और भारतीय धर्म के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखो। तेजस्विनी बनो, हृदय में उत्साह भरो, भारत में जन्म लेने के कारण लज्जित न हो, वरन् उसमें गौरव का अनुभव करो और स्मरण रखो कि यद्यपि हमें दूसरे देशों से कुछ लेना अवश्य है, पर हमारे पास दुनिया को देने के लिए दूसरे की अपेक्षा सहस्रगुना अधिक है।”

भारतीय और पाश्चात्य नारी^१

न्यूयार्क में भाषण देते हुए एक समय स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा था - “मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, यदि भारतीय स्त्रियों की ऐसी ही बौद्धिक प्रगति हो, जैसी इस देश में हुई है; परन्तु वह उन्नति तभी अभीष्ट है, जब वह उनके पवित्र जीवन और सतीत्व को

१. न्यूयार्क के एक भाषण से उद्धृत

अक्षुण्ण बनाये रखते हुए हो। मैं अमेरिका की स्त्रियों के ज्ञान और विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा करता हूँ, परन्तु मुझे यह अनुचित दिखता है कि आप बुराइयों को भलाईयों का रंग देकर छिपाने का प्रयत्न करें। बौद्धिक विकास से ही मानव का परम कल्याण सिद्ध नहीं हो सकता। भारत में नीतिमत्ता और आध्यात्मिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है, और हम उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। यद्यपि भारतीय स्त्रियाँ उतनी शिक्षा सम्पन्न नहीं हैं, तथापि उनका आचार-विचार अधिक पवित्र होता है। प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पुत्रवत् समझे।

प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को मातृवत् समझे। जब मैं इस आचरण को, जिसे आप नारी-सम्मान का भाव कहते हो, अपने चारों ओर देखता हूँ तब मेरा हृदय क्षोभ से भर जाता है। जब तक आप स्त्री-पुरुष के भेद को भूलकर प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का दर्शन नहीं करते, तब तक इस देश की स्त्रियों की यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती। इस दशा को प्राप्त किये बिना तो आपकी स्त्रियाँ खिलौने से अधिक और कुछ भी नहीं हैं, और इसी कारण यहाँ इतने विवाह-विच्छेद होते हैं। यहाँ के पुरुष स्त्रियों के सम्मुख झुकते और उन्हें आसन प्रदान करते हैं; परन्तु एक क्षण के उपरान्त वे उनकी चापलूसी करने लगते हैं; वे उनके नख-शिख सौन्दर्य की प्रशंसा करना आरम्भ कर देते हैं। आपको ऐसा करने का क्या अधिकार है? कोई पुरुष इतनी दूर तक जाने का साहस ही कैसे कर पाता है? और यहाँ की स्त्रियाँ उसको सहन भी कैसे कर लेती हैं? इस प्रकार के आचरण से मनुष्य में निम्नतर भावों का उद्रेक होता है, उससे उच्च आदर्श की प्राप्ति सम्भव नहीं।

हमें स्त्री-पुरुष के भेद का विचार मन में नहीं रखना चाहिए, केवल यही चिन्तन करना चाहिए कि हम सभी मानव हैं और परस्पर एक-दूसरे के प्रति सद्व्यवहार और सहायता करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। हम यहाँ देखते हैं कि 'यों ही किसी नवयुवक और नवयुवती को अकेले होने का अवसर मिला, त्यों ही वह नवयुवक उस नवयुवती के रूप-लावण्य की प्रशंसा आरम्भ कर देता है, और किसी स्त्री को विधिवत् पत्नी रूप में अंगीकार करने से पूर्व ही वह दो सौ स्त्रियों से प्रेमाचार कर चुका होता है। मैं यदि इन विवाहेच्छुकों में से एक होता, तो बिना किसी आडम्बर के ही किसी का प्रिय पात्र बन जाता।

जब मैं भारतवर्ष में था और इन चीजों को केवल दूर से देखता-सुनता था, तब मुझे बताया गया कि उनमें कोई दोष नहीं है, यह केवल मनोविनोद है। उस समय मैंने

उस पर विश्वास कर लिया था। तब से अब तक मुझे बहुत यात्रा करने का अवसर आया है, और मेरा दृढ़-विश्वास हो गया है कि यह अनुचित है, यह अत्यन्त दोषपूर्ण है। केवल आप पाश्चात्यवासी ही अपनी आँखें बन्दकर इसे निर्दोष कहते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रों का अभी यौवन है, साथ-ही-साथ वे अनभिज्ञ, चंचल और धनवान् हैं। जब इन गुणों में से किसी एक के प्रभाव में ही मनुष्य कितना क्या अनर्थ कर डालता है तब जहाँ ये तीनों चारों एकत्र हो वहाँ कितना भीषण अनर्थ हो सकता है? वहाँ का तो फिर कहना ही क्या। अतः सावधान!

आर्य और यूरोपीय सभ्यताओं का ताना-बाना

यदि हम वस्त्र को सभ्यता का रूपक मानें तो यूरोपीय सभ्यता के ये उपकरण हुए, समुद्र तट पर स्थित एक समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश उसका करघा बना और अनेक जातियों की समष्टि से पैदा हुई एक बलिष्ठ तथा सदा युद्धलोलुप सम्मिश्रित जाति इसकी रूई हुई। इसका ताना हुआ युद्ध। अपनी और समाज की रक्षा के लिए जो तलवार चला सकता है वही खड़ा हुआ। जो तलवार चलाना नहीं जानता वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्रछाया में रह जीवन व्यतीत करने लगा। इस वस्त्र का बाना हुआ- व्यापारवाणिज्य। इस सभ्यता का साधन था- तलवार; सहायक बने- साहस तथा शारीरिक सामर्थ्य और उद्देश्य है- लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति।

हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है

अब हम अपनी सभ्यता को देखें। हम आर्य लोग शान्तिप्रिय हैं, हमारा व्यवसाय कृषि प्रधान था और हम केवल इतने में परम सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव कर लेते थे; यदि हम अपने परिवार का बिना किसी बाधा के पालन-पोषण कर पाये।

ऐसी जीवन रचना में हमारे पास पर्याप्त अवकाश था। अतः, हमें चिन्तन करने एवं सभ्य बनने के लिए पर्याप्त अवसर मिल सका। हमारे जनक राजा अपने हाथों से हल भी चलाते थे और उस समय के सर्वश्रेष्ठ आत्मविद् भी थे। यहाँ आरम्भ से ही ऋषि-मुनियों और योगियों का अभ्युदय हुआ था। वे लोग आरम्भ से ही जानते थे कि संसार मिथ्या है। लड़ना-झगड़ना बेकार है। जिस आनन्द की तुम खोज कर रहे हो वह तो केवल 'शान्ति' में ही निहित है और वह शान्ति निहित है दैहिक सुखोपभोगों के परित्याग में। आनन्द का वास मानसिक उन्नति और बौद्धिक विकास में है, न कि शारीरिक भोगों में। इन आत्मविदों ने ही जंगलों को कृषि योग्य बनाकर सभ्यता का विस्तार किया।

इस प्रकार परिष्कृत भूमि पर वैदिक यज्ञवेदी की स्थापना हुई और भारत के निर्मल

आकाश में यज्ञों का पवित्र धुआँ उठने लगा। उस शान्तिमय वातावरण में वेदमन्त्र ध्वनित और प्रतिध्वनित होने लगे और गाय, बैल आदि सब पशु निश्शंक विचरने लगे। अब तलवार का स्थान विद्या और धर्म के पैर के नीचे हो गया। उसका काम रह गया सिर्फ धर्म-रक्षा करना तथा मनुष्य एवं अन्य प्राणियों का परित्राण करना। वीरों का नाम आपद्-त्राता क्षत्रिय पड़ा। हल-तलवार आदि सबका अधिपति नियामक हुआ-धर्म। वही राजाओं का राजा है। जगत् के निद्रामग्न हो जाने पर भी वह सदा जाग्रत रहता है। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते थे।

आर्यों के आगमन का मिथ्या यूरोपीय सिद्धान्त

तुम्हारे यूरोपीय पण्डितों का यह कथन कि आर्य लोग किसी अन्य देश से आकर भारत पर झपट पड़े और वे यहाँ के मूल निवासियों का समूलोच्छेदन कर उनकी भूमि को बलपूर्वक छीनकर यहाँ पर बस गए, निरी मूर्खता और वाहियात बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ाई जाती हैं। यह घोर अन्याय है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का दावा नहीं करता; किन्तु जो समझता हूँ उसे लेकर मैंने पेरिस की काँग्रेस में इसका प्रतिवाद किया था। मैं अनेक भारतीय एवं यूरोपीय मनीषियों से इस विषय पर चर्चा कर रहा हूँ और आशा करता हूँ कि समय मिलने पर मैं इस मिथ्या सिद्धान्त की अनेक आन्तरिक असंगतताओं को दर्शा सकूँगा। मेरा आज लोगों से खासकर भारतीय पण्डितों से भी यही अनुरोध है, कृपया अपने प्राचीन ग्रन्थों एवं शास्त्रों की अच्छी प्रकार छानबीन कीजिए और अपने स्वतन्त्र निष्कर्ष निकालिए।

यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए वे समझते हैं कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया होगा। यदि ये पश्चिमवासी अपने देश में केवल अपने सीमित साधनों पर ही पूर्णतया निर्भर रहकर जीवनयापन करते रहते तो उनका वह दरिद्र जीवन उनकी अपनी सभ्यता की कसौटी पर ही घृणित आवाराओं का जीवन कहलाता। अतः उन्हें दुनिया भर में उन्मत्तों के समान यह खोजते घूमना पड़ता है कि वे लूटपाट एवं हत्या के द्वारा दूसरों की भूमि के शोषण पर स्वयं सुखोपभोग कर सकें। इसलिए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया होगा।

किन्तु, तुम्हारे पास इस धारणा के पक्ष में क्या प्रमाण है, केवल अनुमान? तो

कल्पना की अपनी इन उड़ानों को अपने पास ही रखो।

किस वेद अथवा सूक्त में तुमने पढ़ा है कि आर्य दूसरे देशों से भारतवर्ष में आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार-काटकर यहाँ निवास किया? इस प्रकार की वाहियात बातों से क्या लाभ है? तुम्हारा रामायण का अध्ययन निरर्थक है। फिर व्यर्थ ही उसके आधार पर यह सफेद झूठ क्यों गढ़ रहे हो?

रामायण आर्यों द्वारा अनार्यों की विजय का उपाख्यान नहीं

भला रामायण क्या है? क्या आर्यों के द्वारा दक्षिण भारत की जंगली जातियों पर विजय की गाथा? वाह क्या खूब? रामचन्द्र सुसभ्य आर्य राजा थे। पर उन्होंने किसके साथ लड़ाई की थी? लंका के राजा रावण के साथ। अब जरा रामायण पढ़ कर देखो तो पता चलेगा कि वह रावण सभ्यता में रामचन्द्र से बढ़ा-चढ़ा ही था, कम नहीं लंका की सभ्यता अयोध्या से कदापि कम नहीं, उल्टे कहीं बढ़-चढ़ कर थी। फिर प्रश्न उठता है कि वानरादि दक्षिणी जातियों को कब जीत लिया गया? उल्टे वे सब तो श्री रामचन्द्र जी के मित्र और सहयोगी बन गये थे और यह भी बताओ कि रामचन्द्रजी ने बलि और गुह के कौन-से राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया?

आर्य-सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा है एक विशाल उष्ण, समतल प्रदेश जिस पर यत्र-तत्र नौकारोहण योग्य विशाल नद-नदियाँ प्रवाहमान हैं। इस वस्त्र की रई बनी है उन नाना प्रकार की अतिसभ्य, अर्द्धसभ्य एवं असभ्य जातियों को मिलाकर जो प्रधानतया आर्य हैं और इसका ताना है, वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है मानव प्रकृति की अंगभूत संघर्ष और स्पर्धा की प्रवृत्तियों पर विजय।

ऐ यूरोपीय लोगो ! क्या मैं तुमसे पूछ सकता हूँ कि तुमने अब तक किस देश की दशा को सुधारा है? जहाँ कहीं तुमने दुर्बल जाति को पाया, उसका समूलोच्चाटन कर दिया और उसकी निवास भूमि में तुम खुद बस गए और वे जातियाँ एकदम नामशेष हो गई ! तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है? तुम्हारे ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीप समूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है? वहाँ की मूल जातियाँ आज कहाँ हैं ? उनका समूलोच्चाटन कर दिया गया। तुमने उनका जंगली पशुओं के समान व्यापक संहार कर डाला। जहाँ तुममें यह सब करने का सामर्थ्य नहीं था, केवल वही अन्य जातियाँ अभी तक जीवित रह सकी हैं।

भारत ने तो ऐसा काम कभी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु और उदार थे, उनके अखण्ड, समुद्रवत् विशाल हृदय में, अतिमानवीय प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्क में इन सब आनन्ददायक प्रतीत होने वाले, किन्तु क्षणिक और पाशविक व्यवहारों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया और मेरे निर्बुद्ध देशवासियो ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यदि आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों का उनकी भूमि पर बसने के लोभ में समूलोच्छेदन कर दिया होता तो क्या यहाँ वर्ण-व्यवस्था की सृष्टि हो पाती?

यूरोप का उद्देश्य है सबको नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा करना। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार है और आर्यों की सभ्यता का उपाय-वर्ण विभाग। विभिन्न वर्णों में विभाजन की यह व्यवस्था ही सभ्यता का वह सोपान है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उसके संस्कारों एवं अधिकार के अनुरूप उत्तरोत्तर ऊपर उठने का अवसर मिलता है। यूरोप में केवल बलवान को ही जीने का अधिकार है, दुर्बल के भाग्य में तो केवल मृत्यु का विधान है, इसके विपरीत भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा के हेतु ही बनाया गया।



अपना कर्तव्य इस अविचलित विश्वास के साथ करो कि तुम परमेश्वर के हाथ में एक यन्त्र हो। उसकी सृष्टि पूर्ण है और समय के साथ-साथ जिस-जिस परिवर्तन की आवश्यकता होती है, वह उसे सम्पन्न करता है। उसकी दृष्टि संशोधित करने का न तो हमें अधिकार है और न ही ऐसा करने की हममें शक्ति है। यदि हमारा संगठन केवल सेवा-उन्मुख संगठन है, तो हमें परमेश्वर से प्रार्थना करनी पड़ेगी - हे ईश्वर। तूफान, बाढ़, अकाल और दुर्घटनाएँ उत्पन्न करो, ताकि हमें सेवा करने के अवसर प्राप्त हो सकें। आध्यात्मिक दृष्टि से की गई सेवा मनुष्य-निर्माण के रूप में प्रतिफलित होती है और वह अटल एवं अभिन्न रूप से राष्ट्र-निर्माण से जुड़ी हुई है। यह इस संगठन की पृष्ठभूमि से जुड़े हमारे चिन्तन का केन्द्रीय विचार है।

—माननीय एकनाथजी दानडे (सेवा ही साधना)

हे हिन्दू राष्ट्र ! उतिष्ठत !!



भाग - 3

स्फुट
विचार
एवं
प्रताड़ना

जब तक लाखों लोग भूखे और अज्ञानी हैं,
 तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को
 कृतघ्न समझता हूँ
 जो उनके बल पर शिक्षित बना
 और अब उनकी ओर ध्यान तक नहीं देता।

प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र को महान होने के लिए
 निम्नलिखित तीन बातों की आवश्यकता है -

- १) अच्छाई की शक्तियों पर दृढ़ विश्वास।
- २) ईर्ष्या और सन्देह का अभाव।
- ३) उन सभी की सहायता करना, जो अच्छे बनने
 तथा अच्छा कार्य करने का प्रयत्न करते हैं।

स्फुट विचार

प्रत्येक पुराण में कोई न कोई महासत्य अनुस्यूत है।^१

प्रत्येक पुराण का मूलाधार कोई न कोई ऐतिहासिक सत्य है। पुराणों का उद्देश्य है- मनुष्य को सूक्ष्म सत्य का उसके विभिन्न रूपों में परिचय कराना। और यदि उनमें कोई ऐतिहासिक सत्यता न हो, तो भी वे अपने द्वारा उपदिष्ट सर्वोच्च सत्य के सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप हैं। उदाहरण के लिए रामायण को ही लें। चरित्र निर्माण की दृष्टि से उसका अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राम नाम का कोई व्यक्ति कभी हुआ ही हो। रामायण या महाभारत के प्रतिपाद्य सत्य की प्रामाणिकता केवल राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों की ऐतिहासिकता पर निर्भर नहीं करती। कोई चाहे तो यह धारणा रख सकता है कि ये विभूतियाँ कभी हुई ही नहीं, किन्तु साथ ही उसे इन रचनाओं को उनके द्वारा मानवता के समक्ष प्रतिपादित महान विचारों के बारे में सर्वोच्च प्रमाण मानता होगा।

हमारा दर्शन अपनी सत्यता के लिए किसी एकाध विभूति पर निर्भर नहीं है। कृष्ण ने संसार को नयी या मौलिक बात नहीं सिखायी, न ही रामायण ऐसी कोई बात कहने का दावा करती है जो शास्त्रों में नहीं थी। यह ध्यान रखने की बात है कि ईसाई धर्म येशु के अभाव में, इस्लाम मोहम्मद के बिना और बौद्ध मत बुद्ध के अभाव में नहीं टिके रह सकते, किन्तु हिन्दू धर्म व्यक्तिनिरपेक्ष है। और किसी पुराण में सन्निहित दार्शनिक सत्य के मूल्यांकन के लिए हमें इस प्रश्न में उलझने की आवश्यकता नहीं कि उसमें वर्णित पात्र वास्तविक हैं या काल्पनिक।

पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण को शिक्षित करना है। उनके रचयिता ऋषि-मुनियों ने कुछ ऐतिहासिक पात्रों को छाँट लिया और उन पर अपने कल्पनानुसार अत्युच्च या अतिनिम्न गुण आरोपित कर दिये तथा मानवी आचरण के नैतिक नियम प्रतिपादित कर दिये। क्या यह अनिवार्य है कि रामायण में वर्णित दशमुखी रावण का अस्तित्व रहा ही हो? दशमुख का व्यक्तित्व काल्पनिक है या ऐतिहासिक, इस विवाद से अलग रहकर वह जिस महासत्य का प्रतीक है, उसको समझना चाहिए। तुम कृष्ण का और भी आकर्षक चित्रण कर सकते हो, वह चित्रण केवल तुम्हारे आदर्श की श्रेष्ठता पर निर्भर करेगा। किन्तु पुराणों में निहित महान दार्शनिक सत्य तब भी वही रहेगा।

१. एक भेंट से उद्धृत (हिंदू मद्रास, फरवरी १८९७)

प्रतिक्रियात्मक आन्दोलनों की शीघ्र मृत्यु^१

दक्षिण में शंकर रामानुज के आध्यात्मिक आन्दोलनों के पश्चात वहाँ भारतीय परम्परा के अनुसार संयुक्त जातियों और सशक्त साम्राज्यों का उदय हुआ। जिस समय उत्तरी भारत पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक मध्य एशियाई विजेताओं के चरणों में लोट रहा था, उस समय दक्षिण भारत ही भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का शुभस्थल बना। मुसलमानों ने दक्षिण को जीतने के लिए शताब्दियों तक प्रयास किया, किन्तु उन्हें वहाँ दृढ़ता से पैर जमाने लायक सफलता नहीं मिल सकी। जिस समय संगठित और सशक्त मुगल साम्राज्य अपनी देश विजय को पूर्ण करने के निकट पहुँच रहा था, उसी समय दक्षिण के पठारों और पर्वतों ने अपने लड़ाकू कृषक अश्वारोहियों को मैदान में उतार दिया। रामदास और तुकाराम के द्वारा प्रचारित धर्म के लिए वे वीर अपने प्राणों की बलि देने के लिए भी दृढ़ संकल्प थे। थोड़े ही समय में विशाल मुगल साम्राज्य का केवल नामभर रह गया। इस मुस्लिम काल में उत्तरी भारत में जितने भी आन्दोलन चले, उनका एक ही प्रयास था कि जनता को विजेताओं का धर्म अपनाने से विरत करना। ये विजेता अपने धर्म कर्म के अन्दर सबके लिये सामाजिक और आध्यात्मिक समता लाये थे।

रामानन्द, कबीर, दादू, चैतन्य व नानक के द्वारा स्थापित सभी पन्थों के सभी सन्तों ने परस्पर दार्शनिक मतभेद होते हुए भी मानव समता का समान रूप से प्रचार किया। उनकी समस्त शक्ति जनता पर इस्लाम के विजय की वेगवती बाढ़ को रोकने में ही खर्च हो गई और नये विचारों तथा आकांक्षाओं को जन्म देने का उनको अवकाश ही नहीं मिल सका। यद्यपि उन्होंने जनता को उसके प्राचीन धर्म पर अधिष्ठित रखने और मुसलमानों के कट्टरवाद को भंग करने में निस्संदेह सफलता पायी, तथापि वे केवल जीने के लिए संघर्ष करते रहे। वे केवल आत्मरक्षावादी थे।

किन्तु सिखों के दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह के रूप में उत्तर भारत में भी एक महान धर्मप्रवर्तक उठे, जो सृजनात्मक प्रतिभा से युक्त थे। उनके आध्यात्मिक प्रयासों का परिणाम प्रख्यात राजनीतिक सिख पंथ के उदय के रूप में हुआ। हमें भारत के सम्पूर्ण इतिहास में वह बात दिखाई देती है कि प्रायः प्रत्येक आध्यात्मिक उत्थान के पीछे देश के छोटे या बड़े भाग में राजनीतिक एकता स्थापित हुई है, जिसने उसको जन्म देनेवाली मूल आध्यात्मिक आकांक्षा को बलवती बनाया है; किन्तु मराठा एवं सिख राज्यों के प्रादुर्भाव के पूर्व जो आध्यात्मिक जाग्रति आयी, वह प्रतिक्रियात्मक थी। पूना या लाहौर के राज दरबारों में उस बौद्धिक प्रभा की एक भी किरण को खोजने का प्रयत्न निष्फल

१. भारत का ऐतिहासिक विकास से उद्धृत

होगा, जो मुगल दरबार को घेरे रहती थी। फिर मालव और विजयनगर साम्राज्यों की बौद्धिक आभा से इसकी तुलना बहुत दूर की बात है। बौद्धिक दृष्टि से यह भारतीय इतिहास का सबसे अन्धकारमय काल था। वे दोनों साम्राज्य, जो मुसलमानों के विरुद्ध जन-उन्माद और घृणा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए उल्कापात के समान भारतीय गगन पर चमके, उसी क्षण प्रेरणा-शून्य हो गए जब वे घृणा के लक्ष्य मुसलमानों के साम्राज्य को खण्ड-खण्डित करने में समर्थ हो गए।

पहले 'मनुष्य निर्माण' करो

समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन आन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। यदि ये आन्तरिक शक्तियाँ बलवती एवं सन्तुलित हैं, तो समाज तदनुसार अपनी रचना स्वयं कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार स्वयं करना होगा। कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसा ही राष्ट्रों के साथ होता है। फिर प्रत्येक राष्ट्र की महान सामाजिक व्यवस्थाएँ उसके अस्तित्व की आधारशिला हैं और उन्हें किसी दूसरी जाति के साँचे में नहीं ढाला जा सकता। जब तक उनसे श्रेष्ठ व्यवस्थाओं का विकास न हो, तब तक पुरानी व्यवस्थाओं को नष्ट करना आत्मघात होगा। विकास सदैव धीरे-धीरे होता है।

इन व्यवस्थाओं में दोष निकालना बड़ा सरल है; क्योंकि सभी में कुछ न कुछ अपूर्णता होती है। किन्तु मानवता का सच्चा कल्याण वही करता है जो चाहे जिन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति के ऊपर उठने पर, समाज और उसकी व्यवस्थाओं का ऊपर उठना अवश्यम्भावी है। शीलवान लोग खराब प्रथाओं और नियमों की उपेक्षा कर देते हैं और उनकी जगह ले लेते हैं प्रेम, सहानुभूति और प्रामाणिकता पर आधारित सशक्त नियम। वही राष्ट्र सुखी है जो इतना ऊँचा उठ सके कि उसे न्यूनतम कानूनी पुस्तकों की आवश्यकता रह जाये और जिसे इस या उस व्यवस्था के लिए माथापच्ची करने की आवश्यकता ही न पड़े। सत्पुरुष समस्त नियमों से ऊपर उठने में सहायता प्रदान करते हैं।

अतएव, भारत का उद्धार व्यक्ति के आत्मिक बल और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने अन्दर देवत्व के साक्षात्कार पर निर्भर करता है।

उपासना एकान्त में होती है समूह में नहीं

हम देखते हैं कि धार्मिक उपासना का रूप कभी सामूहिक नहीं हो सकता। धर्म की सच्ची साधना प्रत्येक व्यक्ति का निजी विषय होना चाहिए। मेरा अपना कोई भाव हो सकता है, किन्तु मुझे उसे पवित्र और गुप्त रखना चाहिए; क्योंकि मैं जानता

हूँ कि आपका भी वही भाव होना आवश्यक नहीं है। दूसरे, मैं प्रत्येक के सामने यह दिँढोरा पीटकर कि मेरा भाव क्या है, क्या व्यर्थ उपद्रव पैदा करूँ? अन्य लोग आकर मुझसे लड़ने लगेंगे। यदि मैं उन्हें अपना भाव न बताऊँ तो वे ऐसा नहीं करेंगे। किन्तु यदि मैं सबको बताता फिरूँ कि मेरा अमुक भाव है तो वे सब निश्चय ही मेरा विरोध करेंगे। अतः उसकी चर्चा करने से लाभ ही क्या? इस इष्ट को गुप्त ही रखना चाहिए। वह केवल तुम्हारे और ईश्वर के बीच की वस्तु है। धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन एवं प्रवचन सार्वजनिक तौर पर किया जा सकता है, उसे सामूहिक रूप भी दिया जा सकता है, किन्तु उच्चतर धर्म साधना को सार्वजनिक रूप नहीं दिया जा सकता। आदेश मिलते ही मैं अपनी धार्मिक भावनाओं को प्रकट नहीं कर सकता। इस स्वांग और उपहास का क्या परिणाम होता है? यह धर्म का उपहास है, ईश्वरद्रोह है। इसका फल तुम्हें वर्तमान गिरजाघरों में देखने को मिल सकता है। मनुष्य इस धार्मिक कवायद को कैसे सहन कर सकता है? वहाँ सैनिक जीवन का—सा दृश्य रहता है। “बन्दूक कन्धे पर ले जाओ। नीचे झुको, किताब उठाओ” आदि—आदि। सब कुछ यन्त्रवत् नियन्त्रित, पाँच मिनट तक अनुभूति, पाँच मिनट तक तर्क, पाँच मिनट तक प्रार्थना— सब पूर्व निर्धारित। इन स्वांगों ने धर्म को हानि पहुँचाई है। इन गिरजाघरों में जी भर कर सिद्धान्तों, संवादों एवं दार्शनिक विषयों का विवेचन हो, किन्तु जब उपासना का प्रश्न आये, जो धर्म का वास्तविक व्यावहारिक अंश है, तब वह येशु के इन शब्दों के अनुरूप ही होना चाहिए, “जब तू प्रार्थना करे तो पूर्णतया अन्तर्गुहा में प्रविष्ट हो, जब तू द्वार बन्द कर ले तब वहाँ एकान्त में अपने परमपिता से प्रार्थना कर।”

मूर्तिभंजकों में भी मूर्तिपूजा

समस्त संसार में तुम किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा पाओगे। कहीं वह मूर्ति मनुष्याकार है, जो कि उसका सर्वोत्तम रूप है। यदि मैं किसी मूर्ति की उपासना करना चाहूँ, तो मैं उसका मानव रूप पसन्द करूँगा, न कि पशु, भवन या अन्य कोई रूप। एक सम्प्रदाय सोचता है कि एक विशिष्ट रूप ही मूर्ति का सही प्रकार है, अन्य सोचता है वह रूप खराब है। ईसाई सोचते हैं कि यदि ईश्वर ‘कबूतर’ के रूप में आये तो ठीक, किन्तु यदि वह मत्स्यावतार लेकर आये, जैसा कि हिन्दुओं की धारणा है तो वह झूठ है, निरा अन्धविश्वास है। यहूदियों की धारणा है कि यदि मूर्ति का रूप ऐसा हो जिसमें ‘एक सन्दूक पर बैठे हुए दो देवदूत और एक पुस्तक’ दिखाई जाये तो वह बिल्कुल ठीक होगा, किन्तु यदि मूर्ति स्त्री या पुरुष रूप में है, तो वह भयानक है। मुसलमानों का

विश्वास है कि नमाज़ पढ़ते समय यदि वे पश्चिम की ओर मुँह कर काबा की मस्जिद और उसके पवित्र 'संगे असवद' (काला पत्थर) का कल्पना-चित्र अपने मस्तिष्क में ला सकें तो वह बहुत अच्छा रहेगा। किन्तु, यदि उस कल्पना-चित्र में गिरजाघर आ जाये तो वह घोर मूर्तिपूजा। यही दोष है, किन्तु धर्म के साक्षात्कार की यह आवश्यक सीढ़ियाँ हैं।

अनायास समाधि अवस्था पाने से हानि^१

योगी सिखाता है कि मन स्वयं बुद्धि से परे एक उच्च अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे समाधि अवस्था कहते हैं और जब मन उस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसे तर्कबुद्धि से परे अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होता है। उस मनुष्य को पराभौतिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तर्कबुद्धि के परे जाने की, सामान्य मानव-प्रवृत्ति को पार करने की इस अवस्था को कभी-कभी ऐसा व्यक्ति भी अनायास प्राप्त कर जाता है, जिसे उसकी शास्त्रयुक्त प्रणाली का ज्ञान नहीं है। वह उस अवस्था को मानो संयोग से पा जाता है।

योगी कहते हैं कि इस अवस्था को संयोग से पा जाना बहुत खतरनाक होता है। ऐसे अधिकांश मामलों में मस्तिष्क विकृत हो जाने का भय रहता है और निरपवाद रूप में तुम पाओगे कि ऐसे सब लोग, जो समाधिक अवस्था को बिना समझे ही संयोगवश उसमें पहुँच गये, बहुत महान होने पर भी अंधेरे में भटकते रहे और सामान्यतया अपने समस्त ज्ञान के उपरान्त भी वे कुछ विचित्र अन्धविश्वासों के आधीन हो गए। वे आसानी से मतिभ्रम के शिकार हो जाते हैं। मोहम्मद का दावा था कि एक दिन उन्हें गुफा में जिब्राइल नामक एक देवदूत मिला था जो एक 'हरक' पर बैठाकर उन्हें स्वर्ग ले गया था। किन्तु ऐसी बातों के अलावा मोहम्मद ने कुछ अदभुत सत्यों का भी उद्घोष किया है। यदि तुम कुरान पढ़ो तो तुम्हें उसमें अन्धविश्वासों में निगुणित अदभुत सत्य भी मिलेंगे। इसका आप क्या स्पष्टीकरण देंगे? उस व्यक्ति को अलौकिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु वह प्रेरणा उन्हें अनायास ही प्राप्त हो गई। उसके लिए उन्होंने शास्त्रीय पद्धति से योगाभ्यास नहीं किया था और जो कुछ कर रहे थे, उसके कारणों को नहीं जानते थे। मोहम्मद ने संसार का जितना भला किया, उसका विचार करो और अपनी कट्टरवादिता के कारण उन्होंने संसार का कितना बड़ा अपकार किया, इसकी भी कल्पना करो। उन उपदेशों के कारण जो करोड़ों मनुष्य मौत के घाट उतारे गए जो असंख्य माताएँ अपने बच्चों से वंचित कर दी गईं, जो बच्चे अनाथ हो

१. राजयोग से उद्धृत

गए, देश के देश उजाड़ दिये गए, करोड़ों-करोड़ों लोग मार डाले गए- जरा इसकी भी कल्पना करो।

इस प्रकार हम मोहम्मद और अन्य महान धर्मोपदेशकों के जीवनों के अध्ययन से इस संकट को जान सकते हैं। किन्तु, साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उन सभी को अलौकिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी। जब कभी कोई धर्म-प्रवर्तक अपनी भावुक प्रकृति के वशीभूत हो समाधि अवस्था में पहुँचा तभी वह वहाँ से न केवल सत्य के कुछ कण साथ लाया अपितु कुछ कट्टरवादिता, कुछ अन्धविश्वास साथ लाया, जिन्होंने संसार को उतनी ही हानि पहुँचाई जितनी कि उसके उपदेशों से लाभ पहुँचा। असंगतियों के इस ढेर में, जिसे हम जीवन कहकर पुकारते हैं, कोई संगति बैठाने के लिए हमें तर्कबुद्धि के परे जाना होगा। किन्तु उस स्थिति को शास्त्रीय पद्धति से, शनैः-शनैः सतत अभ्यास द्वारा समस्त अन्धविश्वासों से मुक्त होकर, प्राप्त करना ही उचित होगा।



प्रताड़ना

ओ! अंग्रेजों का अन्धानुकरण करनेवालों!^१

इसे तुम लोग भी अच्छी तरह समझ लो जो भीतर-बाहर से साहब बने बैठे हो तथा यह कहकर चिल्लाते घूमते हो- “हम लोग नर-पशु हैं हे यूरोपवासियों! हमारा उद्धार करो” और यह कहकर धूम मचाते हो कि ईसु आकर भारत में बैठे हैं। ओ बन्धु! यहाँ ईसु भी नहीं आये, जिहोबा भी नहीं आये और न आयेंगे ही। वे इस समय अपने घर सँभाल रहे हैं, हमारे देश में आने का उन्हें अवसर नहीं है।

इस देश में वही पुरातन शिव जी बैठे हैं; वही काली माई पूजित हैं और बंशीधारी बंशी बजाते हैं। यह पुरातन शिवनन्दी पर सवार होकर भारतवर्ष से एक ओर सुमात्रा बोर्नियो, सेलीबिस, ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका के किनारे तक डमरू बजाते हुए एक समय घूमे थे; दूसरी ओर तिब्बत, चीन, जापान, साइबेरिया पर्यन्त पुरातन शिव ने अपने नन्दी को चराया था और अब भी चराते हैं। यह वही महाकाली है जिनकी पूजा चीन, जापान में भी होती है, जिसे ईसु की माँ “मेरी” समझकर ईसाई भी पूजा करते हैं।

यह जो हिमालय पर्वत है इसके उत्तर में कैलाश है, वहाँ पुरातन शिव का निवासस्थान है। उस कैलाश को दस सिर और बीस हाथवाला रावण भी नहीं हिला सका था फिर उसे हिलाना क्या किसी पादरी के बस का काम है? वे पुरातन शिव डमरू बजायेंगे, महाकाली पशुबलि और श्रीकृष्ण जी बंशी बजायेंगे, यही इस देश में हमेशा होगा।

वे हिमालय के समान अडिग हैं। कोई भी प्रयास चाहे वह ईसाई पादरियों का हो या अन्य धर्मोपदेशकों का, उन्हें हिलाने में कभी समर्थ नहीं हो सकेगा। यदि तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो हट जाओ। तुम दो-चार लोगों के लिए क्या सारे देश को अपना सर्वनाश करना होगा? इतनी बड़ी दुनिया तुम्हारे सामने फैली पड़ी है। क्यों नहीं, कहीं अन्यत्र, जहाँ तुम्हारे मनमाने विचरण के लिए पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध हो, जाकर अपने लिए स्थान खोजते हो? ऐसा तो कर ही नहीं सकोगे, साहस कहाँ है? इस बूढ़े शिव का अन्न खायेंगे, विश्वासघात करेंगे और ईसु की जय मनायेंगे।

धिक्कार है ऐसे लोगों को जो साहबों के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं कि “हम अति नीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा जो कुछ है सब कुछ खराब है।” किन्तु

इनके लिए मैं कहता हूँ कि हाँ, यह सब तुम्हारे अपने बारे में सत्य हो सकता है; क्योंकि तुम सत्यवादी होने का दावा करते हो और हम तुम पर अविश्वास करें भी क्यों? किन्तु तुम अपने 'हम' के भीतर सम्पूर्ण राष्ट्र को क्यों समेट लेते हो? बताओ तो यह कहाँ का शिष्टाचार है ?

आओ मनुष्य बनो^१

...और तुम लोग क्या करते हो? ...जीवन भर लम्बी-लम्बी डीगें हाँकना। ओ बकवादियो, तुम हो क्या? आओ, इन लोगों को देखो और जाकर लज्जा से अपना मुँह छिपा लो। ओ भ्रष्ट बुद्धिवालो ! तुम्हारी तो देश के बाहर निकलते ही जाति चली जायेगी। अपनी खोपड़ी पर सैकड़ों वर्षों के दृढ़ अन्धविश्वासों का कूड़ा-कर्कट लाद कर बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार की शुद्धि-अशुद्धि के झगड़े में ही अपनी समस्त शक्ति को नष्ट करने वाले, सैकड़ों युगों के सामाजिक उत्पीड़न से जिनकी सारी मानवता का कचूर निकल चुका है, भला बताओ तो सही, तुम कौन हो? और तुम इस समय कर ही क्या रहे हो? मूर्खों, पुस्तकों को हाथ में लिए केवल समुद्र-तट पर विचरण कर, यूरोपीय मस्तिष्क की अपचित जूठन को बेसमझे रटना, तीस रुपये की मुंशीगिरी के लिए अथवा बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़पना, यही तो तरुण भारत की सर्वोच्च महत्वाकांक्षा है। तिस पर प्रत्येक छात्र के झुण्ड के झुण्ड बच्चे भी पैदा हो जाते हैं, जो भूख से बिलबिलाते, उसके पैरों के चारों ओर चिपककर रोटी के लिए चिल्लाते हैं। क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि उसमें तुम, तुम्हारी पुस्तकें, तुम्हारा गाउन और तुम्हारी विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ आदि सब डूब सकें।

ओ, भारत के उच्च वर्गों^२

तुम आर्य पूर्वजों से अपने वंशानुक्रम का चाहे जितना डिमडिम पीटो, प्राचीन भारत का चाहे जितना गौरव-गान करो, अपनी कुलीनता पर चाहे जितना गर्व करो, किन्तु ओ भारत के उच्च वर्गों! क्या तुम समझते हो कि तुम जीवित हो? तुम अब दस सहस्र वर्ष पुरानी 'ममी' (शव) मात्र रह गए हो। भारत में अब भी जीवन का जो थोड़ा बहुत लक्षण शेष है वह उनमें है जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों ने "चलती-फिरती लाशें" कहकर पुकारा था। वास्तव में तुम ही "चलते-फिरते शव" हो। तुम्हारे गृह, तुम्हारे फर्निचर सब इतने निर्जीव और पुराने हो चुके हैं कि वे अजायबघर के नमूने से लगते हैं। तुम्हारे रीति-रिवाजों, रहन-सहन को देख कोई भी प्रत्यक्षदर्शी यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि मानो वह

१. पत्रावली से उद्धृत २. यूरोप यात्रा के संस्मरणोंसे उद्धृत

बूढ़ी दादी की कहानी सुन रहा है और जब कोई तुमसे व्यक्तिगत भेंट करके घर वापस लौटता है, तब उसके मन में विचार उठता है कि मानो वह किसी चित्र संग्रहालय में रखे पुराने चित्रों को देखकर चला आ रहा हो। इस माया के जगत् में ऐ भारत के उच्च वर्गों! तुम ही वास्तविक माया व रहस्य हो, मरुस्थल की मृग-मरीचिका हो। तुम भूतकाल की उसकी समस्त विविधताओं की खिचड़ी का प्रतिनिधित्व करते हो। अब वर्तमान काल में जो कुछ तुम्हारा अस्तित्व दीख रहा है वह अजीर्ण के कारण उत्पन्न रात्रि-स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तुम भविष्य के शून्य, अस्थि-मांसरहित निरस्तित्व मात्र हो। ओ स्वप्नलोक के जन्तुओ ! तुम और अधिक जीवित ही क्यों हो? तुम अतीत भारत के मांसरहित, रक्तरहित कंकाल मात्र हो। क्यों नहीं तुम शीघ्र ही स्वयं को राख बनाकर हवा में विलीन हो जाते? ओह, तुम्हारी अस्थिवत् अंगुलियों पर तुम्हारे पूर्वजों द्वारा संचित विशाल खजाने छिपे हैं। अब तक तुम्हें उन्हें सौपने का अवसर नहीं मिल सका होगा। अब ब्रिटिश शासनकाल में, मुफ्त शिक्षा और जागरण के इन दिनों तुम अपनी उस सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दो। अरे, जितने शीघ्र हो सके यह कर डालो। तुम स्वयं को शून्य में विलीन कर दो, अन्तर्ध्यान हो जाओ और अपनी जगह नवीन भारत को उठने दो। उसे उठने दो-हल की मुठिया पकड़े किसानों के झोपड़ों से मछुओं, मोचियों और भंगियों के झोपड़ों से। उसे पन्सारी की दूकान में से प्रकट होने दो। कबाड़ियों की भी में से प्रकट होने दो। उसे कल-कारखानों, हाट-बाजारों में से उदित होने दो। उसे वन-उपवनों, गिरि-पर्वतों में से निकलने दो। इन सामान्य लोगों ने सहस्रों वर्षों तक शोषण को झेला है, बिना चूँ-चपड़ किये तुम्हारे अत्याचारों को सहा है और परिणामस्वरूप उनमें अद्भुत सहनशक्ति आ गई है। उन्होंने अनन्त विपदाओं को सहा है, जिसने उन्हें अटूट जीवनशक्ति प्रदान की है। मुट्ठीभर अनाज पर जीवित रहकर वे समस्त संसार को उलट सकते हैं, उन्हें रोटी के केवल आधा टुकड़ा मिल जाने दो, फिर समस्त संसार भी उनकी कर्मशक्ति को रोक नहीं सकेगा। उन्हें रक्तबीज की अक्षय जीवनशक्ति का वरदान मिला हुआ है। (रक्तबीज दुर्गा सप्तशती में वर्णित एक राक्षस था, जिसके रक्त की प्रत्येक बूँद धरती पर गिरने पर उसके समान एक नये राक्षस को जन्म देती थी) इसके अतिरिक्त उनमें शुद्ध और नैतिक जीवन से उत्पन्न वह अद्भुत बल है जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यह शान्तचित्ता, यह सन्तोष, यह स्नेह, यह मौन, अनवरत् कर्म शक्ति और संकट की घड़ी में सिंह साहस का परिचय तुम और कहाँ पा सकोगे? ओ अतीत के कंकालों! ये हैं तुम्हारे सामने तुम्हारे भावी उत्तराधिकारी। यह है आने वाला भारत! इन खजानों को, इन अमूल्य रत्नजड़ित अंगूठियों को जितनी शीघ्र हो सके, उनके सामने फेंक दो और हवा में विलीन

हो जाओ! फिर कभी दिखाई न दो, केवल अपने कान खुले रखो! तुम अन्तर्ध्यान हुए नहीं कि तुम अपने कानों से पुनर्जाग्रत भारत के जन्म की घोषणा सुनोगे जो लक्षावधि मेघ-गर्जनाओं के समान सम्पूर्ण विश्व में प्रतिध्वनि कर उठेगी, “वाहे गुरु की फतह।”

चैतन्य के ‘दिव्य प्रेम’ का यह विकृत रूप^१

श्री चैतन्य महाप्रभु असीम त्यागी पुरुष थे। वे स्त्री व काम-वासना से बिल्कुल परे थे। किन्तु परवर्तीकाल में उनके शिष्यों ने अपने सम्प्रदाय में स्त्रियों को प्रविष्ट कर लिया। चैतन्य के नाम पर वे उनसे अन्धाधुन्ध घुल-मिल गए और उनके समस्त कार्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। महाप्रभु ने अपने जीवन में प्रेम का जो आदर्श प्रस्तुत किया था, वह पूर्णतया निर्हेतुक और वासना से रहित था। वह कामुकता रहित प्रेम कभी जनसाधारण की सम्पत्ति नहीं बन सकता। किन्तु, परवर्ती वैष्णव गुरुओं ने चैतन्य के जीवन के वैराग्य पक्ष पर सर्वप्रथम विशेष आग्रह करने के बजाय उनका समस्त उत्साह उनके प्रेम के आदर्श को जनसाधारण में प्रचारित और अनुप्रमाणित करने में ही व्यर्थ कर डाला। जिसका परिणाम हुआ कि लोग उनके दिव्य-प्रेम के उच्च आदर्श को न तो ग्रहण कर सके और न आत्मसात कर पाये और स्वाभाविक ही उन्होंने उसे नारी और पुरुष के कामुक प्रेम का निम्नतम रूप दे दिया।

इस राष्ट्र की दशा निहारो और देखो कि इस दुर्बद्ध प्रयास का क्या फल निकला है? उस विकृत प्रेम के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप यह सम्पूर्ण राष्ट्र नपुंसक बन गया है, स्त्रियोचित भाव से भर गया है। पूरा उड़ीसा कायरों के देश में परिवर्तित हो गया है। और बंगाल, इन विगत चार सौ वर्षों में राधा-प्रेम के पीछे उन्मत्त होकर अपना समस्त पुरुषत्व खो बैठा है। ये लोग केवल रोने-चीखने में ही शेर रह गए हैं। यह उनका जातीय स्वभाव-सा बन गया है। जरा उनके साहित्य पर दृष्टिपात करो; क्योंकि यही तो किसी जाति के विचारों और भावों का वास्तविक दर्पण होता है। इन चार सौ वर्षों में सम्पूर्ण बंगाली साहित्य से केवल रोने और गिड़गिड़ाने की ही ध्वनि निकल रही है। उसने एक भी ऐसी कविता को जन्म नहीं दिया जिसमें सच्चा वीर भाव हिलोरे मारता हो।

जब तक हृदय में कामुकता है, उसका एक कण भी शेष है तब तक सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता। उस दिव्य प्रेम के अधिकारी श्रेष्ठ वैरागियों में भी जो महान हो उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। यदि प्रेम के उस सर्वोच्च

आदर्श को जन-साधारण में फैलाने का प्रयास किया गया तो वह अप्रत्यक्ष रूप से मानवी पर शीघ्र अधिकार जमानेवाले सांसारिक प्रेम को उत्तेजित कर देगा। स्वयं को परमात्मा की अधांगिनी अथवा प्रिया समझकर ईश्वर के चरणों का ध्यान करने के प्रयास में व्यक्ति हर क्षण अपनी पत्नी का ही चिन्तन करता रहेगा। इसका परिणाम स्पष्ट है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं।

हे ईसाई पादरियों!१

यह सत्य नहीं है कि मैं किसी धर्म के विरुद्ध हूँ। यह भी उतना ही असत्य है कि मैं भारत के ईसाई प्रचारकों के प्रति कटुता रखता हूँ। किन्तु, मुझे उनके अमेरिका में धन एकत्रीकरण के कतिपय उपायों पर घोर आपत्ति है। बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों में ऐसे चित्रों को प्रकाशित करने का क्या अर्थ है, जिनमें भारतीय माता को अपने बच्चों को गंगा में मगरमच्छ के मुँह में फेंकते हुए चित्रित किया गया है। उसमें भी माता कृष्णवर्णी है, किन्तु बच्चे को गौरवर्णी चित्रित किया गया है, ताकि अधिक करुणा जाग्रत करके अधिक धन बटोरा जा सके। उन चित्रों का क्या अर्थ है जिनमें एक पुरुष को अपने हाथों अपनी पत्नी को जीवित जलाते दिखाया गया है, ताकि उसकी पत्नी प्रेतात्मा बनकर अपने पति के शत्रु को त्रस्त करे। उन चित्रों का क्या उद्देश्य है, जिनमें विशाल रथों के नीचे मनुष्य को कुचलते हुए दिखाया गया है। कुछ दिनों पूर्व इस देश में बच्चों के लिए एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। जिसमें एक प्रचारक अपनी कलकत्ता-यात्रा का वर्णन करता है। वह कहता है कि उसने कलकत्ता की सड़कों पर अन्धविश्वासियों को एक रथ के नीचे प्राण त्याग करते हुए देखा। ऐसे ही एक सज्जन को मैंने मेम्फिस में यह प्रचार करते हुए सुना कि भारत के प्रत्येक ग्राम में नन्हे-नन्हे शिशुओं की हड्डियों से भरा एक तालाब होता है।

आखिर हिन्दुओं ने ईसा के इन चेलों का क्या बिगाड़ा है कि वे प्रत्येक ईसाई बच्चे को हिन्दुओं को 'दुष्ट', 'पतित' एवं 'पृथ्वी के सबसे भयंकर' कहना सिखाते हैं। यहाँ विद्यालयों में रविवारीय शिक्षा का यह अनिवार्य अंग बन गया है कि उसमें बच्चों को प्रत्येक गैर-ईसाई से, विशेषकर हिन्दुओं से घृणा सिखायी जाती है, ताकि वे अपने बाल्यकाल से ही इन ईसाई प्रचारकों को चन्दा देना सीख लें। यदि सत्य के लिए नहीं तो कम-से कम अपने बच्चों की नैतिकता के हित से ही ईसाई प्रचारकों को ऐसी बातें बन्द कर देना चाहिए। इसमें क्या आश्चर्य है, यदि ऐसे बच्चे बड़े होकर निर्दयी और नृशंस स्त्री-पुरुष निकलें?

१. मद्रास के अभिनन्दन के उत्तर में से उद्धृत

जो ईसाई प्रचारक अनन्त नरक के अत्याचारों का, वहाँ धधकने वाली ज्वाला का भयावह चित्रण कर सकता है उसी को अन्धविश्वासियों के द्वारा ऊँचा स्थान दिया जाता है। मेरे एक मित्र की परिचारिका को पुनरुत्थानवादी सभाओं में हिस्सा लेने के परिणामस्वरूप पागलखाने भेजना पड़ा था। नरकाग्नि की ज्वालाओं के भयावह चित्रण को वह सहन नहीं कर पाई। फिर मद्रास में प्रकाशित होने वाली हिन्दू धर्म विरोधी पुस्तकों की ओर भी देखो। यदि कोई ईसाई धर्म के विरुद्ध ऐसी एक भी पंक्ति लिख दे तो ये ईसाई प्रचारक उसके विरुद्ध हिंसा और बदले का तूफान खड़ा कर देंगे।

मेरे देशवासियो! मुझे इस देश में वापस लौटे एक वर्ष से अधिक हो गया। मैंने समाज का लगभग प्रत्येक कोना छान डाला है और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मैं तुम्हें बताता हूँ कि न तो हम राक्षस हैं, जैसा ईसाई प्रचारक हमारे बारे में संसार को बताते हैं और न वे देवदूत हैं जैसा वे अपने बारे में दावा करते हैं। ईसाई प्रचारक हिन्दुओं की अनैतिकता, शिशु-हत्या एवं विवाह-प्रथा की बुराइयों के बारे में जितना कम बोलेंगे, उतना ही उनके लिए हितकर होगा। कुछ ईसाई देशों के ऐसे सच्चे चित्र भी हो सकते हैं, जिनके समक्ष ईसाई प्रचारकों द्वारा चित्रित हिन्दू समाज के काल्पनिक चित्र बिल्कुल फीके पड़ जायेंगे। किन्तु मेरे जीवन का ध्येय वेतनभोगी निन्दक बनना नहीं है। मैं हिन्दू समाज की पूर्णता का दावा करने वालों में से बिल्कुल नहीं हूँ। शायद ही कोई व्यक्ति हिन्दू समाज के दोषों एवं दुर्भाग्यपूर्ण शताब्दियों में उत्पन्न विकृतियों के प्रति मुझसे अधिक जागरूक होगा। हे विदेशी मित्रो ! यदि तुम सचमुच, हमारे देश के लिए सच्ची सहानुभूति लेकर सहायता के लिए आओ, न कि केवल विध्वंस के लिए तो ईश्वर तुम्हारी सहायता करे। किन्तु, यदि एक पराजित जाति के सिर पर मौके-बेमौके गालियों की निरन्तर बौछार कर तुम केवल अपने राष्ट्र की नैतिक श्रेष्ठता का डंका पीटना चाहते हो तो मैं तुम्हें स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि यदि न्यायपूर्वक कोई तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास हुआ तो हिन्दू जाति संसार की समस्त जातियों से, संसार के समस्त अन्य राष्ट्रों से नैतिकता के क्षेत्र में बाँसों से ऊँची सिद्ध होगी।

ईश्वर और एषणाओं की पूजा साथ-साथ सम्भव नहीं^१

एक बात मैं 'तुम्हें' बताऊँगा। इसे निन्दा मत समझना। तुम लोगों को प्रशिक्षित करते हो, खाना-कपड़ा और वेतन देते हो सो काहे के लिए? क्या इसलिए कि मेरे देश में आकर मेरे पूर्वजों, मेरे धर्म और मेरी सब चीजों को गालियाँ दें और निन्दा करें? वे मन्दिर के निकट जायें और कहें, "ओ मूर्तिपूजकों! तुम नरक में जाओगे!" किन्तु वे भारत के मुसलमानों से ऐसा कहने का साहस नहीं कर पाते; क्योंकि तब तलवारें निकल

आयेंगी। किन्तु हिन्दू बहुत सौम्य है, इसलिए वह मुस्कुरा देता है और यह कहकर टाल देता है कि “मूर्खों को बकने दो।” यही है उसका दृष्टिकोण!

तुम स्वयं तो गालियाँ देने और आलोचना करने के लिए लोगों को शिक्षित करते हो, किन्तु यदि मैं बहुत अच्छा उद्देश्य लेकर तुम्हारी तनिक भी आलोचना कर दूँ, तो तुम उछल पड़ते हो और चिल्लाने लगते हो- “हमें मत छोड़ो, हम अमेरिकन हैं। हम दुनिया के सब लोगों की आलोचना करें, निन्दा करें व उन्हें गालियाँ दें; चाहे जो कहें पर हमें मत छोड़ो, क्योंकि हम छुई-मुई के पेड़ हैं।”

तुम्हारे मन में जो आये तुम कर सकते हो, किन्तु साथ ही मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि हम जैसे भी जी रहे हैं, उससे पूर्णतया सन्तुष्ट हैं और एक मायने में हम बहुत अच्छे हैं; क्योंकि हम अपने बच्चों को कभी ऐसे भयानक असत्य निगलना नहीं सिखाते।

और जब कभी तुम्हारे पादरी हमारी आलोचना करें, वे इस बात को कभी न भूलें कि यदि सम्पूर्ण भारत खड़ा हो जाये और हिन्दू-महोदधि की तलहटी की समस्त कीचड़ को उठाकर पाश्चात्य देशों के मुँह पर फेंक दें तो वह उस दुर्व्यवहार का लाक्षांश भी न होगा जो तुम हमारे प्रति कर रहे हो।

और यह सब क्यों? क्या हमने कभी एक भी धर्म-प्रचारक को दुनिया में किसी का धर्म-परिवर्तन करने के लिए भेजा? हमारा तुमसे कहना है- “तुम्हारे धर्म का स्वागत। किन्तु हमारा धर्म हमारे पास रहने दो।”

तुम अपने धर्म को आक्रामक धर्म कहते हो, तुम आक्रामक हो, किन्तु फिर भी तुम कितने लोगों को अपने धर्म में ला पाये? विश्व की जनसंख्या का प्रत्येक छठा व्यक्ति चीनी है और वह बौद्ध है। इसके अतिरिक्त जापान, तिब्बत, रूस, साइबेरिया, बर्मा, स्याम भी तो बौद्ध है। और शायद तुम यह बात हजम न कर पाओ, किन्तु तुम्हारी यह ईसाई नैतिकता, यह कैथोलिक गिरजाघर भी कहाँ से पैदा हुआ है? और यह सब कैसे हुआ, कैसे किया गया? रक्त की एक बूँद बहाये बिना! ओ अहंकारियो! बताओ तुम्हारी ईसाइयत ने कहाँ कृपाण के बिना सफलता पाई? मुझे सम्पूर्ण विश्व में ऐसा केवल एक भी उदाहरण तो बता दो, मैं दो नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म-परिवर्तन किस प्रकार हुआ था। मृत्यु या धर्म-परिवर्तन, उनके सामने केवल दो ही मार्ग थे; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। अपनी समस्त दाम्भिक गर्जनाओं के बावजूद तुम इस्लाम से किस अर्थ में श्रेष्ठ हो? अरबों ने गर्जना की थी “हम ही श्रेष्ठ हैं, केवल हम ही!” क्यों? “क्योंकि हम दूसरों

की हत्या कर सकते हैं।” किन्तु, वह अरब अब कहाँ? रोमन लोग भी यही कहा करते थे पर अब वे कहाँ हैं? इसलिए ठीक ही कहा गया है कि “धन्य हैं शान्ति के पुजारी, वे ही इस पृथ्वी का उपभोग करेंगे।” ऐसी बातें टिका नहीं करती, उनका महल बालू के ढेर पर बना होता है, जिनका ढहना अवश्यम्भावी है।

प्रत्येक वस्तु जिसकी नींव स्वार्थ है, प्रतिस्पर्धा ही जिसकी कर्म-प्रेरणा है और विषय-सुख जिसका लक्ष्य है, देर या सबेर अवश्य मरेगी। ऐसी वस्तुओं को मरना ही चाहिए। बन्धुओ! मैं तुम्हें बताता हूँ कि यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, यदि तुम सचमुच चाहते हो कि तुम्हारा राष्ट्र जीवित रहे, तो तुम ईसा की ओर वापस लौटो! वस्तुतः तुम सच्चे ईसाई नहीं हो। नहीं, एक राष्ट्र के नाते भी नहीं हो। ईसा की ओर वापस लौटो; जिसके पास सिर टिकाने के लिए भी जगह नहीं थी। “चिड़ियों के पास घोंसले हैं, पशुओं के पास माँदें हैं, किन्तु मनुष्य-पुत्र के पास सिर टिकाने के लिए भी जगह नहीं है।” और तुम विलासिता का आकर्षण दिखाकर धर्म का प्रचार करते हो! भाग्य की कैसी विडम्बना है? इसे बदलो; यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो इसे बदल डालो। जो कुछ मैंने इस देश में सुना है, वह सब ढोंग है, यदि यह राष्ट्र जीवित रहना चाहता है, तो इसे ईसा की ओर वापस लौटने दो। तुम ईश्वर और एषणाएँ, दोनों की एक साथ पूजा नहीं कर सकते। यह सब भोग-ऐश्वर्य, ईसा के नाम पर? ईसा होते तो इस सब नास्तिकता को ठुकरा देते। शैतानियत के साथ आने वाला समस्त भोग-ऐश्वर्य नश्वर है, क्षणभंगुर है। अमरत्व केवल उस परमपिता में ही है। यदि तुम इन दोनों चीजों का, इस आश्चर्यजनक समृद्धि का और ईसा के आदर्शों का समन्वय कर सको, तो बहुत अच्छी बात है, किन्तु यदि नहीं कर सकते तो, अच्छा होगा कि तुम ईसा की ओर लौट चलो और इसे त्याग दो। ईसा के साथ चीथड़ों में रहने की तैयारी, उसके बिना महलों में रहने से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

‘मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है’^१

जब हर एक मनुष्य खड़ा होकर कहे कि ‘मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है’ तब वह सत्य बात नहीं बोलता। उसे धर्म का ‘क’, ‘ख’, ‘ग’ भी नहीं आता। धर्म न तो तत्त्व चर्चा, न सैद्धान्तिक मतवाद और न उसके लिए बौद्धिक स्वीकृति का ही नाम है। वह है अन्तःकरण में ईश्वर का साक्षात्कार, ईश्वर से तद्रूपता। वह एक भावना है, एक अनुभूति है कि मैं विश्वात्मा का एक अंश मात्र हूँ और उसकी समस्त श्रेष्ठ अभिव्यक्तियों

१. पसडेना (कैलिफोर्निया) में दिये गए एक भाषण से

में से एक हूँ। यदि तुम सचमुच परमपिता के घर में प्रवेश कर चुके हो तो तुमने उसके बच्चों को देखकर भी कैसे नहीं पहचाना? और यदि तुम उन्हें नहीं पहचान सकते तो इसका अर्थ है कि तुमने परमपिता के घर में प्रवेश किया ही नहीं। माता अपने बच्चे को किसी भी वेश में पहचान लेती है और लाख छद्मवेश में छिपने पर भी उसे जान ही जाती है।

अतः प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में महान् आध्यात्मिक स्त्री-पुरुषों को पहचानो और देखो कि उनमें एक दूसरे से बहुत भिन्नता नहीं है। जहाँ कहीं सच्चा धर्म है, यह दिव्य स्पर्श हो चुका है, आत्मा का परमात्मा से मिलन हुआ है, वहीं हृदय विशाल हुआ है और उसे सब ओर प्रकाश दीख पड़ा है।

मुसलमान लोग इस दृष्टि से सबसे अधिक संकुचित और सम्प्रदायवादी हैं। उनका घोष-वाक्य है, “अल्लाह केवल एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।” उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह न केवल बुरा है, अपितु नष्ट हो जाना चाहिए। इस घोष-वाक्य पर आस्था न रखने वालों को तुरन्त ध्वस्त कर देना चाहिए। जो पुस्तक उनसे भिन्न उपदेश देती है, उसे जला डालना चाहिए। पाँच सौ वर्षों तक प्रशान्त महासागर से अटलांटिक महासागर तक रक्त की धारा बहायी गई, यही है इस्लामवाद।

आत्मकेन्द्रित जाति^१

मनुष्य जितना स्वार्थी होता है, उतना ही अनैतिक होता है। यही बात जाति के साथ भी है। जो जाति स्व-केन्द्रित हो गई, वह समस्त संसार में सर्वाधिक दुष्ट एवं अत्याचारी सिद्ध हुई है। संसार में कोई दूसरा धर्म नहीं है जो अपने-पराये की इस भावना का इतना अधिक शिकार रहा हो, जितना कि अरब के पैगम्बर द्वारा स्थापित धर्म। और कोई दूसरा धर्म न होगा, जिसने अन्य धर्मावलम्बियों पर इतने अधिक अत्याचार किये हों और रक्तपात किया हो। कुरान में यह आदेश दिया गया है कि जो इन उपदेशों को नहीं मानते उनका कत्ल कर देना चाहिए, उनकी हत्या करना उन पर दया करना है। और, सुन्दर ह्रों तथा सब प्रकार के ऐशो-आराम से परिपूर्ण जन्नत (स्वर्ग) को पाने का निश्चित मार्ग एक ही है और वह है इन काफिरों को मार डालना। ऐसे विश्वासों के फलस्वरूप जो भीषण रक्तपात हुआ है, उसकी कल्पना तो करो।



१. लन्दन में दिये गए एक भाषण से



संगठन का ध्येय सर्वोच्च है, इसलिए उसकी प्रमुख आवश्यकता यही है कि उसका कार्य निर्बाध गति से चले। यदि यह विचार हमारे मस्तिष्क में सदैव जाग्रत रहता है, तो उनके मत-भिन्नताएँ एवं असहमतियाँ सरलता से दूर की जा सकती हैं और तब उनका तनिक सा भी दाग-धब्बा संगठन पर न लग सकेगा। अनुकूल वातावरण और उचित आपसी समझ संगठन के त्वरित विकास में बहुत सहायक होते हैं। यदि उनकी उपेक्षा हुई, तो पतन निश्चित है। हम प्रायः देखते हैं कि जब छोटी-मोटी बातों को बढ़ा-चढ़ाकर और तोड़-मरोड़कर बहुत बड़ी गलती और भयंकर दोष के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, तो उसके परिणामस्वरूप एक अवांछित अप्रियता निर्मित हो जाती है, जो कि संगठन के हितों के लिए आत्मघाती होती है। इसलिए हर व्यक्ति को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए— (१) क्या बोले? (२) किससे बोले? और (३) कहाँ बोले? इन स्वास्थ्यप्रद नियमों के अभाव में यदि कोई किसी सामान्य गलती का वैयक्तिक स्तर पर शिकार हो जाएँ, तो इसके परिणामस्वरूप समूचे संगठन को अपार क्षति हो सकती है

— माननीय एकनाथजी रानडे (सेवा ही साधना)

हे हिन्दू राष्ट्र उतिष्ठत ! जाग्रत !!



भाग - 4

**मनुष्य
निर्माण
अथवा
कार्यकर्ताओं
का गठन**

हमें चाहिए प्रज्ञावान,
वीर और तेजस्वी युवक,
जो मृत्यु से आलिंगन करने का,
समुद्र को लाँघ जाने का साहस रखते हों।

हमें ऐसे सैकड़ों कार्यकर्ता चाहिए—
पुरुष और स्त्री दोनों।
केवल इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए
अपनी पूरी शक्ति लगाओ।
अपने चतुर्दिक़ लोगों का हृदय-परिवर्तन करो
एवं उन्हें हमारे चरित्र निर्माण के
महातन्त्र में लगाओ।
स्थान-स्थान पर निर्माण-केंद्र स्थापित करो।
अधिकाधिक लोगों को दीक्षित करो।

परमात्मा के प्रति अटूट निष्ठा से सम्पन्न
और पावित्र्य की भावना से उद्दीप्त,
दरिद्रों एवं उपेक्षितों के प्रति
हार्दिक सहानुभूति लेकर,
सिंह के पौरुष से युक्त,
सहस्रों नर-नारी,
देश के एक कोने से दूसरे कोने तक
भ्रमण करते हुए मुक्ति का,
सामाजिक पुनरुत्थान का,
सहयोग और समता का सन्देश देंगे।

संगठन

एक बार उन्होंने (स्वामीजी ने) मेरी दादीजी से कहा कि “मेरे जीवन का सब से बड़ा आकर्षण अमेरिका में है।” मेरी दादी ने थोड़ा चुटकी काटने के लिए उनसे पूछा- “ऐसी वह कौन है, स्वामी?” वह ठहाका मारकर हँस पड़े और बोले, “ओह, वह कोई स्त्री नहीं है, बल्कि संगठन है।” उन्होंने समझाया कि किस प्रकार रामकृष्ण परमहंस के शिष्य अकेले निकल पड़ते हैं और जब वे किसी ग्राम के निकट पहुँचते हैं तो चुपचाप एक वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं, उनकी प्रतीक्षा में जो अपनी आपत्तियों में उनकी सलाह माँगने आते हैं। “किन्तु, मैंने अमेरिका में देखा कि संगठित प्रयास के द्वारा कितना अधिक कार्य किया जा सकता है।” परन्तु तब तक वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि संगठन का कौन-सा प्रकार भारतीय स्वभाव के लिए पूर्णतया उपर्युक्त होगा। वे इस बारे में बहुत चिन्तन-मनन और अध्ययन कर रहे थे कि पाश्चात्य जगत् में जो कुछ वे अच्छा समझते हैं उसे अपने देशवासियों के अधिकतम हित की दृष्टि से कैसे उपयुक्त बनायें।

कु. कॉर्नर

लोकतान्त्रिक ढाँचे की पूर्व-पीठिका^१

अनेक देशों में भ्रमण करने के पश्चात मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि संगठन के बिना संसार में कोई भी महान एवं स्थायी कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु, भारत जैसे देश में, विकास की वर्तमान अवस्था में मुझे यह सद्परामर्श नहीं लगता कि जनतांत्रिक आधार पर कोई नया संगठन प्रारम्भ किया जाए जिसमें प्रत्येक सदस्य की समान आवाज हो और जिसमें बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाए। पश्चिमी देशों की स्थिति भिन्न है। हम भी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जब यह सीख जायेंगे कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं हितों के ऊपर सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्रहित के लिए त्याग किया जाये, तब हमारे लिए भी जनतान्त्रिक प्रणाली से कार्य करना सम्भव हो सकेगा। इस बात को ध्यान में रखकर हमें फिलहाल अपने संगठन के लिए एक सर्वाधिकारी मार्गदर्शक अपनाना होगा, जिसकी आज्ञाओं का सब लोग पालन करें। उपयुक्त समय आने पर उसका कार्य संचालन सभी सदस्यों के मत एवं सहमति से हो सकेगा।

१. रामकृष्ण मिशन की स्थापना के अवसर पर रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों के समक्ष भाषण करते हुए

हिन्दुओं का संगठन

ऐसा संगठन जो हिन्दुओं को पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव सिखा सके, परमावश्यक है। मेरे कार्य की सराहना करने के लिए कलकत्ता में जो सभा हुई उसमें पाँच हजार लोग आये। ऐसे ही अन्य स्थानों पर भी सैकड़ों की संख्या में लोग आये। बहुत अच्छी बात है! किन्तु, यदि तुम उनमें से प्रत्येक से एक आना देने को कहो, तो क्या वे ऐसा करेंगे? हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय चारित्र्य बच्चों के समान परावलम्बी बन गया है। सब लोग खाने का स्वाद तो लेना चाहते हैं, मगर वह उनके मुँह के पास पहुँच जाय तभी। कुछ तो यहाँ तक चाहते हैं कि वह उनके गले के नीचे उतार दिया जाये। तुम्हें जीने का कोई अधिकार नहीं यदि तुम अपनी सहायता स्वयं नहीं कर सकते हो।

भारत में तीन लोग मिल-जुलकर पाँच मिनट तक कार्य नहीं करते। प्रत्येक सत्ता पाने के लिए संघर्ष करता है और फलस्वरूप आगे जाकर संगठन संकट में पड़ जाता है। हे ईश्वर! हे प्रभो! हम ईर्ष्या न करना कब सीख पायेंगे? ऐसे राष्ट्र में ऐसे व्यक्तियों का, जो मत-भिन्नताओं के रहते हुए भी अमर स्नेह के सूत्र में ग्रन्थित हों, संगठन तैयार करना क्या आश्चर्य की बात नहीं? यह संगठन बढ़ता जायेगा। अदभुत विशाल हृदयता से संयुक्त शाश्वत शक्ति एवं प्रगति का यह भाव सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो जाना चाहिए। इस गुलाम राष्ट्र को उत्तराधिकारी के रूप में उपलब्ध भयंकर अज्ञान, जातिभेद, पोंगापन्थी और ईर्ष्या के बावजूद यह भाव सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्युत चैतन्य भी देगा उसे समाज के रोम-रोम में भर देना चाहिए।

कार्य की तीन अवस्थाएँ

प्रत्येक कार्य को तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है— उपहास, विरोध और अन्त में स्वीकृति।

ऐसे प्रत्येक मनुष्य के बारे में जो अपने समय से बहुत आगे की सोचता है, भ्रान्ति उत्पन्न होना निश्चित है। अतः विरोध और अत्याचारों का स्वागत करना होगा। केवल मुझे दृढ़ और शुद्ध होना चाहिए तथा ईश्वर में अगाध श्रद्धा रखनी चाहिए। फिर, ये सब अपने आप ठीक हो जायेंगे।

प्रसिद्धि, लोलुपता एवं निर्माण—कार्य साथ नहीं चलते

कभी किसी ने समाज को प्रसन्न रखने और साथ ही महान कार्य करने में सफलता नहीं पाई। किसी को केवल अपनी अन्तरात्मा के आदेशों का पालन करते रहना चाहिए और यदि वह आदेश सही और शुभ हो तो समाज को उसका अनुसरण करना ही होगा,

भले ही वह उसकी मृत्यु के शताब्दियों बाद करे। हम मन, बुद्धि और शरीर से अपने कार्य में जुट जाएं। जब तक हम केवल एक और केवल एक ही विचार के लिए अन्य सब कुछ त्यागने के लिए तैयार नहीं होंगे, तब तक हमें कभी प्रकाश का दर्शन नहीं होगा, कभी नहीं।

जो लोग मानवता की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, उन्हें अपने सुख-दुःख, कीर्ति-प्रतिष्ठा तथा अन्य समस्त स्वार्थों को गठरी में बाँधकर समुद्र में फेंक देना चाहिए और तब भगवान के चरणों में आना चाहिए, यही समस्त महापुरुषों ने कहा और किया।

पूर्ण आज्ञाकारिता

जो आज्ञापालन करना जानता है, वही आज्ञा देना भी जान सकता है। पहले आज्ञापालन सीखो। इन समस्त देशों में स्वतन्त्रता की तीव्र भावना के साथ ही आज्ञापालन की भावना भी उतनी ही तीव्र है। हम सभी अपने-अपने को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, जिसके कारण कोई कार्य नहीं हो पाता। महान उद्यम, असीम उत्साह, प्रचण्ड शक्ति और इन सबसे ऊपर पूर्ण आज्ञाकारिता केवल इन्हीं गुणों के सहारे व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान सम्भव है। इन गुणों का हम में सर्वथा अभाव है।

यहाँ प्रत्येक नेता बनना चाहता है, आज्ञापालन करना कोई नहीं जानता। महान कार्यों को करने में नेता की आज्ञाओं को आँख मूढ़ कर पालन करना होता है। यदि मेरे गुरुभाई अभी मुझसे कहें कि मुझे अपने जीवन का शेष भाग मठ की नालियाँ साफ करने में बिताना है, तो निश्चय जानो कि मैं इस आज्ञा का बिना किसी विरोध के पालन करूँगा। केवल वही महान सेनापति हो सकता है जो सर्वजनहिताय प्रत्येक आज्ञा को बिना नानुकुर (छोटी-मोटी आपत्ति) किये पालन करना जानता है।

आज्ञापालन के गुण का विकास तो करो किन्तु अपनी आत्मश्रद्धा को मत खोओ। अपने वरिष्ठों की आज्ञापालन के बिना एकसूत्रता सम्भव नहीं। व्यक्तिगत शक्तियों के ऐसे केन्द्रीकरण के बिना कोई भी महान कार्य नहीं किया जा सकता।

सहयोगियों के प्रति व्यवहार

तुम्हें किसी की योजना का निरादर कर उसे निरुत्साहित नहीं करना चाहिए। आलोचना को बिल्कुल छोड़ दो। सबकी तब तक सहायता करते रहो, जब तक तुम्हें दिखाई दे कि वे ठीक कर रहे हैं और जब कभी वे गलत पग उठाते दिखाई दें तो उनकी भूलों को सौम्यतापूर्वक उनकी दृष्टि में लाओ। एक दूसरे की आलोचना ही समस्त उपद्रवों की जड़ है। वही संगठनों के विघटन का मुख्य कारण बनती है।

तुम्हारे समस्त कार्यों की सफलता पूर्णतया तुम्हारे पारस्परिक स्नेह पर निर्भर है। जब तक ईर्ष्या, द्वेष एवं अहंवादिता कायम है, तब तक कोई भला नहीं होने वाला है।

अपने बन्धुओं के विचारों का आदर करो और सदैव सद्भाव स्थापित करने का यत्न करो। यही सफलता का रहस्य है।

आदर्श कार्य-विधि

भारत में समस्त संयुक्त प्रयास एक ही बुराई के बोझ से दबकर डूब जाते हैं। हमने अभी तक स्वयं में कार्यविधि के सिद्धान्तों के कठोर पालन की वृत्ति विकसित नहीं की है। कार्य को उसके आदर्श रूप में ही करना चाहिए। फिर उसमें किसी 'मित्रता' या प्रचलित मुहावरे के अनुसार 'आँख की लज्जा' को स्थान नहीं मिलना चाहिए। अपने अधिकार में जो भी कोष हो उसके पाई-पाई का लेखा-जोखा रखना चाहिए और भूलकर भी कभी एक मद की धनराशि का किसी दूसरी मद के लिए, चाहे जो हो, यहाँ तक कि अगले ही क्षण भूखों मरने की नौबत पहुँच चुकी हो, तब भी उपयोग मत करो। यही है कार्य-विधि की शुद्धि।

संगठन के स्थायित्व का रहस्य

ऐसा तन्त्र निर्माण करो जो स्वचालित हो। फिर चिन्ता नहीं, कौन जीता है, कौन मरता है। हम भारतीयों का एक बड़ा भारी दोष यह है कि हम स्थायी संगठन नहीं खड़ा कर पाते। उसका कारण यह है कि हम कभी दूसरों को अपने अधिकारों में सहभागी बनाना नहीं चाहते और कभी यह चिन्ता ही नहीं करते कि हमारे चले जाने के बाद क्या होगा।

नेतृत्व

चरित्र की शुद्धता

यदि नेता चरित्रवान नहीं है तो अनुयायियों में उसके प्रति श्रद्धा टिकना संभव नहीं। पूर्णतया शुद्ध चरित्र के आधार पर ही अटूट श्रद्धा और विश्वास टिक सकते हैं।

लोकसंग्रह के जन्मजात गुण

नेता केवल एक जन्म में नहीं बन जाता। वह जन्मजात ही होता है। संगठन की स्थापना करना अथवा योजनाएँ बनाना इतना कठिन कार्य नहीं है। नेता की वास्तविक कसौटी यह है कि वह बहुत भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोगों को भी उनकी समान वेदनाओं-भावनाओं के आधार पर एकत्र रख सकता है या नहीं। और, यह कार्य बड़े सहज रूप में ही होता है, बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करके नहीं।

सेवा और स्नेह: नेतृत्व के अनिवार्य गुण

नेता के दायित्व को निभाना बहुत ही कठिन कार्य है। उसके लिए व्यक्ति को 'दासस्य दासः' यानी दासों का दास बनना पड़ता है और सहस्रों हृदयों को अपने अन्दर समाना पड़ता है। सबके प्रति सेवाभाव रखने वाला ही उनका सच्चा स्वामी बन सकता है। ईर्ष्या और स्वार्थ का लेशमात्र शेष न रहने पर ही तुम नेता बन सकते हो। जन्मजात और निःस्वार्थ व्यक्ति ही नेता हो सकता है।

आत्मत्याग, न कि आत्महठ

वह सैनिक भावना है ही कहाँ, जो आरम्भ से ही मनुष्य को सेवा और आज्ञापालन तथा आत्म-संयम का अभ्यास कराना सिखाती है? सैनिक भावना है आत्मत्याग में, न कि आत्महठ में। दूसरों के हृदयों एवं जीवनों पर शासन करने के पूर्व व्यक्ति को दूसरे की आज्ञा पर आगे बढ़कर अपने प्राण देने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। सर्वप्रथम बलिदान करने की सिद्धता रखनी चाहिए।

अग्रिम मोर्चे पर नेता को रहना होगा

क्या भारतीय सैनिक युद्धस्थल में कायरता दिखाता है? कभी नहीं; किन्तु उन्हें योग्य नेता मिलने चाहिए। मेरे एक अंग्रेज मित्र जनरल स्ट्रॉंग १८५७ की सैनिक क्रान्ति के समय भारत में थे। वे उस समय की कई घटनाएँ सुनाया करते थे। एक दिन वार्ता के दौरान मैंने उनसे पूछा कि जो सैनिक बन्दूकों, शस्त्रास्त्रों एवं खाद्य सामग्री आदि से पूरी

तरह सम्पन्न थे, जो अनुभवी धुरन्धर थे, वे इतनी बुरी तरह क्यों हारे? उन्होंने उत्तर दिया कि उनके नेता स्वयं आगे न बढ़कर पीछे किसी सुरक्षित स्थान पर से ही चिल्लाते थे, 'लड़े जाओ बहादुरो' आदि-आदि। किन्तु जब तक आज्ञा देने वाला सेनाधिकारी आगे नहीं बढ़ता और मृत्यु का सामना नहीं करता, तब तक साधारण सैनिक कभी पूरे हृदय से नहीं लड़ सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। "नायक को अपने शीश का बलिदान देना ही होगा" -यदि तुम किसी लक्ष्य के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकते हो, केवल तभी तुम नेता बनने के अधिकारी हो। किन्तु हम सब पर्याप्त त्याग किये बिना ही नेता बनने के चक्कर में रहते हैं, जिसका परिणाम है- शून्य! कोई हमारी बात नहीं सुनता।

नेता निष्पक्ष एवं व्यक्तिनिरपेक्ष हो

पक्षपात सब बुराइयों की जड़ है। कहने का अभिप्राय है कि यदि तुम एक के प्रति दूसरे की अपेक्षा अधिक स्नेह प्रदर्शित करते हो, तो विश्वास रखो, तुम भावी संकटों के बीज बो रहे हो।

वह कभी नेता नहीं बन सकता जिसके स्नेह में थोड़ा भी ऊँच-नीच का भेद है। जिसका स्नेह अनन्त है, जिसमें ऊँच-नीच का भेद नहीं, समस्त संसार उसके चरणों पर लोटता है।

मैं देखता हूँ लोग मुझे अपना लगभग सम्पूर्ण स्नेह अर्पित कर देते हैं। किन्तु, मैं बदले में अपना सम्पूर्ण स्नेह किसी एक को नहीं दे सकता; क्योंकि उसी दिन कार्य चौपट हो जायेगा। फिर भी कुछ लोग जो व्यक्तिनिरपेक्ष विशाल दृष्टिकोण से सम्पन्न नहीं हैं, बदले में सम्पूर्ण स्नेह की अपेक्षा करेंगे। कार्य के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि मैं पूर्णतया व्यक्तिनिरपेक्ष रहते हुए अधिक-से-अधिक लोगों का उत्साहयुक्त स्नेह अर्जित कर सकूँ। अन्यथा, ईर्ष्या और झगड़े सब कुछ विघटित कर डालेंगे। नेता को व्यक्तिनिरपेक्ष ही रहना चाहिए।

सहानुभूति और सहिष्णुता

यदि कोई तुम्हारे पास आकर अपने किसी भाई की बुराई करने लगे, तो उसकी बात बिल्कुल मत सुनो। निन्दा सुनना भी पाप है। इसी में भावी संकटों के बीज निहित हैं।

प्रत्येक की कमियों को सहन करो। लाखों अपराधों को क्षमा करो। यदि तुम सबको निःस्वार्थ भाव से प्रेम करोगे तो वे सब भी शनैःशनैः एक दूसरे को प्रेम करने

लगेँगे। जब वे यह भली प्रकार समझ जायेंगे कि एक का हित दूसरों के हित पर निर्भर करता है, तभी उनमें से प्रत्येक ईर्ष्याभाव को त्याग देगा। मिल-जुलकर कोई कार्य करना मानो हमारे राष्ट्रीय चरित्र का अंग ही नहीं रह गया है। तुम्हें इस भावना को बहुत चिन्तापूर्वक पैदा करने का यत्न करना चाहिए और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

शिशुवत् नेतृत्व ही सर्वोत्तम

कुछ लोग मार्गदर्शन मिलने पर बहुत अच्छा कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक नेता बनने के लिए पैदा नहीं हुआ है। सर्वोत्तम नेता वही है जो एक शिशु के समान नेतृत्व करता है। शिशु ऊपर से देखने पर तो सभी का आश्रित है, किन्तु वस्तुतः वह सम्पूर्ण परिवार का सम्राट होता है। कम-से-कम मेरे विचार में तो यही मन्त्र है।

नेतृत्व करने का थोड़ा-सा भी दिखावा अन्यो में ईर्ष्या को भड़का कर सब कुछ चौपट कर डालता है।



सच्चा मार्गदर्शक

शब्दों के सामर्थ्य का रहस्य

जो अपने को ईश्वरार्पण कर देते हैं, वे संसार के लिए इन तथाकथित कार्यकर्ताओं की अपेक्षा बहुत कुछ कर जाते हैं। यदि किसी एक व्यक्ति ने अपनी पूर्ण आत्मशुद्धि कर ली है, तो वह इन उपदेशकों के पूरे दल की अपेक्षा से कहीं अधिक कार्य पूरा कर लेता है। आत्मशुद्धि और मौन में से शब्दों का अपूर्व सामर्थ्य पैदा होता है।

गुरु का व्यक्तित्व

एक बार इंग्लैंड में एक मित्र ने मुझसे प्रश्न पूछा था, “हम गुरु के व्यक्तित्व की ओर इतना क्यों निहारें? हमें केवल उनके उपदेशों पर विचार करना चाहिए और उन्हें अपनाना चाहिए।” किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति मुझे रसायनशास्त्र अथवा गति विज्ञान या कोई अन्य भौतिक विज्ञान पढ़ाना चाहता है तो उसका चरित्र चाहे जैसा हो, वह इन विषयों को पढ़ाने में सफल हो सकता है; क्योंकि भौतिकवादी विद्याओं का ज्ञान केवल बौद्धिक होता है और बौद्धिक शक्ति पर निर्भर करता है। कोई भी मनुष्य आत्मा का रंचमात्र विकास किये बिना ही ऐसे क्षेत्र में प्रचण्ड बौद्धिक सामर्थ्य से सम्पन्न हो सकता है। किन्तु आध्यात्मिक प्रकाश मिल सके, ऐसी आत्मा क्या सिखा सकती है? उसे कुछ ज्ञान नहीं।

शुद्धता में ही आध्यात्मिक सत्य निहित है

आध्यात्मिक गुरु चुनते समय सर्वप्रथम हमें देखना चाहिए कि इसका व्यक्तित्व क्या है। केवल तभी उसके शब्दों का कुछ मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व संचारण यन्त्र जैसा कार्य करता है। वह संचार ही क्या करेगा यदि उसमें वह आध्यात्मिक शक्ति है ही नहीं? उदाहरणस्वरूप, यदि बिजली का चूल्हा गर्म है तो वह उष्णता की तरंगें प्रवाहित कर सकता है, किन्तु यदि वह गर्म नहीं है तो उसके द्वारा ऐसा होना असम्भव है। इसी प्रकार आध्यात्मिक गुरु से भी मानसिक तरंगें निकलती हैं जो शिष्य के चित्त तक पहुँचती हैं। यह समस्या है आत्मिक शक्ति को प्रदान करने की, न कि केवल हमारी बौद्धिक शक्तियों को उत्तेजित करने की। गुरु से एक वास्तविक अनुभव में आने वाली शक्ति प्रवाहित होती है और शिष्य के अन्तःकरण में बढ़ने लगती है। अतः, यह अनिवार्य आवश्यकता है, कि गुरु सच्चा हो। हम बहुत बढ़िया भाषण सुनते

हैं, अद्भुत तर्कों से युक्त प्रवचन भी सुनते हैं, किन्तु घर जाकर उन सबको भूल जाते हैं। कभी-कभी हम बहुत सरल भाषा में दो-चार शब्द ही सुनते हैं, किन्तु वे हमारे अन्तर्मन पर छा जाते हैं, हमारे सम्पूर्ण जीवन को स्थायी रूप से बदल डालते हैं। उस व्यक्ति के शब्द जो अपना व्यक्ति-बल उनमें उड़ेल दें, प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु उसका व्यक्तित्व तेजस्वी होना चाहिए। आदान-प्रदान का नाम ही शिक्षण है। गुरु देता है और शिष्य ग्रहण करता है, किन्तु एक के पास देने के लिए कुछ होना चाहिए और दूसरे का द्वार लेने लिए खुला रहना चाहिए।

गुरु का कार्य

(१) शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक पूर्णता की अभिव्यक्ति मात्र है।

(२) धर्म मनुष्य में विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति है।

अतः दोनों मामलों में गुरु का एकमेव कर्तव्य शिष्य के मार्ग की समस्त बाधाओं को हटाना है। इसीलिए मैं सदैव कहता आया हूँ - “हस्तक्षेप मत करो।” शेष सब अपने आप ठीक हो जायेगा अर्थात् हमारा कार्य मार्ग साफ करना है। शेष सब भगवान करेगा।

निषेधात्मक विचार मनुष्य को दुर्बल बनाते हैं।

“....निषेधात्मक विचार मनुष्य की शक्ति क्षीण करते हैं। क्या आप नहीं देखते कि जो माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने के मोह में उन्हें हर समय ताड़ना देते रहते हैं कि “तुम मूर्ख हो, तुम कभी कुछ नहीं सीख सकोगे” उनके बच्चे अधिकांश उदाहरणों में सचमुच ऐसे ही निकल जाते हैं। यदि तुम बच्चों से मधुर वचन बोलो और उन्हें उत्साहित करो, तो धीरे-धीरे उनका सुधार होना अवश्यम्भावी है। जो बात इन छोटे बच्चों पर लागू होती है, वही उच्च विचारों के क्षेत्र के नवागन्तुकों पर भी लागू होता है। यदि तुम उन्हें भावात्मक विचार दे सको तो वे लोग सचमुच ही मनुष्य बन जायेंगे और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेंगे। भाषा और साहित्य, कला और कविता-प्रत्येक क्षेत्र में उन भूलों की ओर ही इंगित नहीं करना चाहिए जिस पर चलकर अपने कार्य को अच्छी प्रकार कर सकें। कमियाँ बतलाने से मनुष्य की भावनाओं को आघात लगता है। हमने देखा है कि भगवान रामकृष्ण उन लोगों को भी प्रोत्साहन दिया करते थे, जिन्हें हम बिल्कुल निकम्मा समझते थे और इस प्रकार उनके जीवन की दिशा को भी बदल डालते थे। उनके शिक्षण का तरीका अभूतपूर्व था।



सफल जीवन का रहस्य अथवा कर्म-कौशल

मस्तिष्क को उच्च आदर्श से भर दो

मांसपेशियों के द्वारा शक्ति का जो प्रगटीकरण होता है, उसे ही कार्य कहते हैं। किन्तु जहाँ विचार नहीं, वहाँ कार्य नहीं। अतः मस्तिष्क को उच्च विचारों एवं उच्च आदर्शों से भर दो। उन्हें दिन-रात अपने सामने रखो और तब उसमें से महान कार्य निष्पन्न होगा।

आकाश को हर कोई देख सकता है, यहाँ तक कि धरती पर रेंगने वाला क्षुद्र कीड़ा भी उस नीलाकाश को देखता है। किन्तु वह हम सबसे कितनी दूर है? यही बात आदर्श के साथ है। इसमें सन्देह नहीं कि वह बहुत दूर है, किन्तु साथ ही हम जानते हैं कि हमारे पास वह होना ही चाहिए। हम उच्चतम आदर्श अपने समक्ष रख सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस जीवन में अधिकांश लोग लक्ष्यविहीन हो अँधेरे में भटक रहे हैं। यदि लक्ष्यवान व्यक्ति एक सहस्र भूलें करता है तो मेरा विश्वास है कि लक्ष्य-विहीन व्यक्ति पचास सहस्र भूलें करेगा। अतः कोई न कोई आदर्श सामने होना चाहिए। उस आदर्श के बारे में हम अधिक-से-अधिक श्रवण करें, ताकि वह हमारे अन्तःकरण में, हमारे मस्तिष्क में, हमारी रगों में समा जाये। यहाँ तक कि रक्त की प्रत्येक बूंद में चैतन्य भर दे और शरीर के प्रत्येक रोम में समा जाये। हम हर क्षण उसी का चिन्तन करें। अन्तःकरण की परिपूर्णता में से ही वाणी मुखरित होती है और अन्तःकरण की परिपूर्णता के पश्चात ही हाथ भी कार्य करते हैं।

सीप-समान बनो

मोती की सीप के समान बनो। एक बड़ी सुन्दर भारतीय कथा है कि यदि स्वाति नक्षत्र में वर्षा की एक बूँद भी उस सीप में पड़ जाती है, तो वह मोती बन जाती है। सीप यह बात जानती है, अतः वे स्वाति नक्षत्र के चमकते ही जल की सतह पर आ जाती है और उस मूल्यवान वर्षा की बूँद को पाने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। जैसे ही कोई बूँद उनके मुख से प्रवेश करती है वे सीप तुरन्त अपना मुँह बन्द कर लेती है और डुबकी लगाकर समुद्र के तल पर पहुँच जाती है। वहाँ वे धैर्यपूर्वक बूँद को मोती का रूप दे देती है।

हम भी वैसे ही बनें। पहले सुनो, तब मनन करो और अन्त में सब दुविधा को छोड़कर अपने अन्तःकरण को बाह्य प्रभावों की ओर से बन्द कर लो और अपने अन्दर

उस सत्य के पोषण में लग जाओ। एक विचार को केवल उसके नयेपन से आकर्षित हो अपना लेना और फिर उसमें भी नये विचार के लिए उसको त्याग देने की वृत्ति से ही पूरी शक्तियाँ बिखर जाने का भय है। एक विचार लो, उसी का चिन्तन करो, उसे अन्त तक पहुँचाओ और जब तक उसके छोर पर न पहुँचो, उसे त्यागो मत। जो अपने लक्ष्य के प्रति पागल हो गया है, उसे ही प्रकाश के दर्शन होते हैं। जो इधर-उधर ध्यान बांटते हैं, वे कोई लक्ष्य पूर्ण नहीं कर पाते। वे कुछ क्षणों के लिए बड़ा जोश दिखाते हैं, किन्तु वह शीघ्र ठण्डा हो जाता है।

अतः एक लक्ष्य अपनाओ। उस लक्ष्य को ही अपना जीवन कार्य समझो। हर क्षण उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो। उसी के सहारे जीवित रहो। मस्तिष्क, मांसपेशियाँ, नसें आदि शरीर के प्रत्येक अंग उसी विचार से ओत-प्रोत हों और तब तक अन्य प्रत्येक विचार को किनारे पड़ा रहने दो। सफलता का यही राजमार्ग है, इसी मार्ग पर चलकर अब तक आध्यात्मिक महापुरुष पैदा हुए हैं। अन्यो को केवल बोलने वाले यन्त्र समझो।

सफलता के लिए अत्यधिक अध्यवसाय एवं प्रबल इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है। अध्यवसायी आत्मा कहती है, “मैं समुद्र को पी जाऊँगी।” मेरी इच्छामात्र से पर्वत चूर-चूर हो जायेंगे।” यह कर्मशक्ति, यह इच्छाशक्ति प्राप्त करो, कठोर परिश्रम करो और तुम निश्चित ही लक्ष्य पर पहुँच जाओगे।

महावीर को आदर्श मानो

तुम्हें महावीर के चरित्र को आदर्श के रूप में अपने-सामने रखना होगा। देखो, किस प्रकार वे रामचन्द्र की आज्ञा पर समुद्र को लाँघ गये। उन्होंने अपने जीवन या मृत्यु की तनिक भी चिन्ता नहीं की। वे अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी थे और अदभुत प्रज्ञा से सम्पन्न थे। तुम्हें व्यक्तिगत सेवा के इस महान आदर्श के नमूने पर अपने जीवन का निर्माण करना होगा। उसके द्वारा अन्य समस्त आदर्श भी जीवन में स्वतः धीरे-धीरे प्रकट होंगे। गुरु की आज्ञा का आँख मूँदकर पालन करो। ब्रह्मचर्य का निष्ठापूर्वक आचरण सफलता का मूलमन्त्र है। हनुमान जहाँ एक ओर सेवा के आदर्श के प्रतीक हैं, वहीं दूसरी ओर समस्त भूमंडल को कंपा देने वाले सिंहवत् साहस के भी प्रतीक हैं। राम के हित के लिए उन्हें अपने प्राणों का बलिदान करने में तनिक भी संकोच नहीं है। यहाँ तक कि विश्व के महान देवता ब्रह्मा अथवा विष्णु के स्थान को प्राप्त करने की लालसा भी नहीं है। उनके जीवन का एक ही व्रत है- ‘राम की प्रत्येक इच्छा को क्रियान्वित करना’ ऐसी ही पूर्ण समर्पणकारी भक्ति चाहिए।

जिन खोजा, तिन पाइयाँ

एक सड़क पर घूमते हुए आलसी व्यक्ति ने एक बूढ़े व्यक्ति को अपने मकान के दरवाजे पर बैठे हुए देखा। उसने ठहरकर उस बूढ़े से एक ग्राम का पता-ठिकाना पूछा। उसने पूछा, “अमुक-अमुक ग्राम यहाँ से कितनी दूर है?” बूढ़ा मौन रहा। उस आदमी ने कई बार उसी प्रश्न को दोहराया। तब भी कोई जवाब न मिला। इससे झुंझलाकर यात्री चलने के लिए मुड़ पड़ा। तभी बूढ़े ने खड़े होकर कहा “अमुक ग्राम यहाँ से केवल एक मील दूर है।” “क्या!” यात्री ने कहा “तुमने यही बात जब मैंने पूछी, तब क्यों नहीं बतायी?” बूढ़े ने कहा- “क्योंकि तब तुम जाने के बारे में काफी उदासीन और ढीले दिखाई दे रहे थे और जब तुम पक्के इरादे के साथ जाने के लिए तैयार दीखते हो तब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गए हो।”

क्या तुम इस कहानी को स्मरण रखोगे? कार्य में जुट जाओ, शेष साधन अपने आप पूरे हो जायेंगे। भगवान ने गीता में कहा है-

*अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥*

(गीता ९/२२)

“जो अनन्य भाव से मेरी ही उपासना करते हैं उनके योगक्षेम की चिन्ता मैं स्वयं करता हूँ।”

....ईसा के शब्दों को स्मरण रखो, “माँगो और वह तुम्हें मिलेगा, खोजो और तुम पा जाओगे। थपथपाओ और द्वार तुम्हारे लिए खुल जायेंगे।” ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं, इनमें केवल रूपक या कल्पना नहीं है...

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसकी तुमने सच्चे अन्तःकरण से कामना की हो और न मिली हो? ऐसा कभी नहीं हो सकता। इच्छा ने ही शरीर को पैदा किया। प्रकाश ने ही तुम्हारे मस्तक पर दो छेद पैदा किये जिन्हें तुम आँखें कहते हो। यदि प्रकाश न होता तो तुम्हारे पास आँखें न होतीं। शब्द ने कानों को बनाया। विषय पहले आये और उन्हें ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ बाद में।

माँगो और तुम्हें मिलेगा

लेकिन तुम्हें समझना होगा कि इच्छा-इच्छा में भी अन्तर होता है।

एक शिष्य अपने गुरु के पास गया और बोला- “श्रीमान् मैं ईश्वर को पाना चाहता

हूँ।” गुरु ने उस युवक की ओर देखा, एक शब्द नहीं बोले और केवल मुस्कुरा दिए। युवक प्रतिदिन आता था, आग्रह करता कि उसे ईश्वर चाहिए। किन्तु, उस वृद्ध को युवक की अपेक्षा अधिक ज्ञान था। एक दिन जब बहुत गर्मी पड़ रही थी, गुरु ने युवक से अपने साथ चलकर नदी में स्नान करने को कहा। युवक ने जैसे ही नदी में डुबकी लगायी, वृद्ध ने पीछे से आकर उसे बलपूर्वक पानी में ही दबा लिया। जब युवक कुछ देर तक मुक्ति के लिए छटपटा चुका, तब उन्होंने उसे छोड़ दिया और पूछा कि “जब तुम पानी के अन्दर थे, तब तुम्हारी एकमेव इच्छा क्या थी?” शिष्य ने उत्तर दिया, “हवा का केवल साँस।” तब गुरु ने कहा “क्या तुम्हारी ईश्वर को पाने की इच्छा भी उतनी तीव्र है?” यदि हो तो वह तुम्हें एक क्षण में मिल जायेगा। जब तक तुम्हारी भूख तुम्हारी इच्छा उतनी ही तीव्र नहीं है, तब तक तुम परमात्मा को कदापि नहीं पा सकते, चाहे तुम कितना ही बौद्धिक व्यायाम अथवा कर्मकाण्ड करो।

बुद्धि की करुणा अपनाओ

क्या तुम्हारे मन में दूसरों के प्रति सहानुभूति है? यदि है तो तुम एकत्व का साक्षात्कार कर रहे हो। यदि तुम्हारे अन्दर दूसरों के प्रति सहानुभूति नहीं तो तुम चाहे संसार के सबसे बड़े बुद्धिवादी दैत्य हो, किन्तु तुम कुछ भी नहीं बन सकोगे। तुम निरे शुष्क बुद्धिवादी हो और वैसे ही सदा बने रहोगे।

क्या तुमने विश्व के इतिहास से कभी यह जानने का प्रयास किया है कि धर्म-प्रवर्तकों की शक्ति का स्रोत कहाँ है? क्या वह बुद्धिबल में था? क्या उनमें से किसी ने भी दर्शन पर कोई सुन्दर पुस्तक लिखी, तर्क की जटिल गुत्थियों में उलझने का प्रयास किया? एक ने भी नहीं। वे केवल थोड़े से शब्द बोले। ईसा के समान सहानुभूति रखो और तुम ईसा बन जाओगे। बुद्ध के समान सहानुभूति करो और तुम बुद्ध बन जाओगे। यह सहानुभूति की भावना ही वह जीवन है, शक्ति है, बल है, जिसके बिना कितने भी बौद्धिक व्यायाम से तुम ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकते। बुद्धि तो केवल क्रिया-चेतनाहीन अंग है। भावना का संयोग होने पर ही उस अंग में गति आती है और वे कार्य करने लगते हैं। समस्त संसार में ऐसा ही होता है और इस बात को तुम्हें सदा स्मरण रखना चाहिए।

वाल्मीकि का प्रथम श्लोक करुणा से उद्भूत

एक दिन जब महर्षि वाल्मीकि पवित्र गंगा नदी में स्नान करने के लिए जा रहे थे, तब उन्होंने क्रौंच के एक जोड़े को आकाश में विहार करते और एक-दूसरे का चुम्बन करते देखा। महर्षि उनकी यह क्रीड़ा देखकर प्रसन्न हुए, किन्तु दूसरे ही क्षण एक तीर उनके

निकट से गुजरा और उसके द्वारा नर क्रौंच मारा गया। वह धरती पर गिर गया तब मादा क्रौंच विषाद में भरकर चीत्कार करती हुई अपने प्रिय साथी के शव के चारों ओर मँडराती रही। उस दृश्य को देखकर कवि के अन्तःकरण में इतनी वेदना और करुणा उमड़ी कि उन्होंने हत्यारे निषाद को कहा, “तू दुष्ट है, तुझमें दया का रंचमात्र भी नहीं ! तेरा हत्यारा हाथ प्रेम को देखकर भी नहीं रुका!”

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत्क्रौञ्चमिथुनादैकमवधीः काममोहितम्।।

(वाल्मीकि रामायणः बालकाण्ड)

तभी कवि ने अपने मन में सोचा, “यह क्या? यह मैं क्या कह गया? इस ढंग से तो मैं इसके पूर्व कभी नहीं बोला था।” और तब एक देव वाणी सुनायी दी, “डरो मत! यह कविता है जो तुम्हारे मुख से निकल रही है। संसार के कल्याण के लिए राम का चरित्र काव्य में लिखो।” इस प्रकार प्रथम कविता का जन्म हुआ। आदिकवि वाल्मीकि के मुख से करुणा के उद्रेक में प्रथम श्लोक का उच्चार हुआ। उसके बाद ही उन्होंने राम के चरित्र पर ‘रामायण’ जैसी सुन्दर रचना की।

सही दृष्टिकोण

तुम जो कुछ कार्य करते हो, वह बहिर्मुखी है। वह तुम्हारे अपने कल्याण के लिए है। ऐसा मत समझो कि ईश्वर कहीं खाई में गिर पड़ा, ताकि हम-तुम कोई अस्पताल आदि बनवाकर उसकी सहायता कर सकें। वह केवल तुम्हें काम करने का अवसर देता है। यदि वह तुम्हें इस विशाल व्यायामशाला में अपने स्नायुओं को व्यायाम कराने का अवसर देता है, तो इसलिए नहीं कि उसे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, बल्कि इसलिए कि तुम स्वयं अपनी सहायता कर सको! क्या तुम समझते हो कि तुम्हारी सहायता के अभाव में एक चींटी भी मर सकेगी? यह विचार ईश्वर-निन्दा है।

हम धन्य हैं कि हमें उसके लिए कार्य करने का, न कि उसकी सहायता करने का, सुअवसर मिला। इस ‘सहायता’ शब्द को अपने मस्तिष्क से निकाल फेंको। तुम सहायता नहीं कर सकते। यह विचार केवल नास्तिकता है।

....तुम्हें उसकी पूजा का अवसर दिया गया है। इस श्रद्धापूर्वक भाव से सम्पूर्ण विश्व की ओर देखो। तब तुम्हारे अन्दर पूर्ण निष्काम भाव जगेगा। यही तुम्हारा कर्तव्य है। यही कार्य के प्रति सही दृष्टिकोण है। यही कर्मयोग का रहस्य है।

निःस्वार्थ कार्यकर्ता ही सबसे सुखी है

भिखारी को कभी सुख नहीं मिलता। उसे दयापूर्वक एक टुकड़ा मिल जाता है, किन्तु उसके पीछे उपेक्षा और घृणा का भाव रहता है। कम से कम यह भाव तो रहता ही है कि भिखारी कोई तुच्छ वस्तु है। वह जो कुछ पाता है, उसमें उसे सुख नहीं मिलता।

हम सब भिखारी हैं। हम जो काम करते हैं उसका बदला चाहते हैं। हम सब व्यापारी बन गए हैं। हम जीवन का व्यापार करते हैं, गुणों का व्यापार करते हैं, धर्म का व्यापार करते हैं। आह! हम प्रेम का भी व्यापार करते हैं।

यदि तुम व्यापार ही करना चाहते हो, यदि तुम्हारे सामने लेना-देना ही है, क्रय-विक्रय का ही प्रश्न है, तो फिर क्रय-विक्रय के नियमों का पालन करो। समय अच्छा भी होता है और बुरा भी। कभी कीमतें ऊपर चढ़ती हैं और कभी नीचे गिरती हैं। व्यापार में तुम सदैव घाटे के लिए प्रस्तुत रहते हो। यह दर्पण में चेहरा देखने के समान है। उसमें तुम्हारा चेहरा दिखाई देता है। यदि तुम मुँह बनाते हो तो वह भी मुँह बनाता है। तुम हँसते हो तो दर्पण भी हँसने लगता है। क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान में इसी प्रकार होता है।

किन्तु हम पकड़े जाते हैं? कैसे? जो हमने दिया उसके कारण नहीं, अपितु जो हम अपेक्षा करते हैं उसके कारण। हम अपने स्नेह के बदले दुःख पाते हैं। इसलिए नहीं कि हमने प्रेम किया, बल्कि इसलिए कि हमने बदले में प्रेम चाहा। जब किसी चीज की चाह ही नहीं तो दुःख कैसा? इच्छा, चाह ही प्रत्येक दुःख की जननी है। इच्छायें सफलता और असफलता के नियमों से बँधी हुई हैं। अतः, इच्छाओं के साथ दुःख का आना अनिवार्य है।

....नित्यानवे प्रतिशत साधु वासना और कांचन को त्याग देने के बाद भी यश और लोकेषणा की इच्छा के दास हो जाते हैं। क्या तुम्हें नहीं ज्ञात कि “समस्त वासनाओं से मुक्त श्रेष्ठ मनुष्यों का भी लोकेषणा पीछा नहीं छोड़ती।” कहने में इससे सरल कोई बात नहीं कि मैं कर्म के लिए कर्म करता हूँ, किन्तु व्यवहार में इससे कठिन कोई अन्य वस्तु नहीं। मैं बीस मील तक अपने सिर पर चलकर उस व्यक्ति के दर्शनों के लिए जाने को तैयार हूँ जो केवल कर्म के लिए कर्म कर सके। कहीं न कहीं कोई कामना विद्यमान रहती ही है। यदि वह धन की कामना नहीं है तो सत्ता की भूख है। यदि सत्ता की भूख नहीं है, तो यश की लालसा है। इस प्रकार कहीं, न कहीं किसी न किसी रूप में कोई न कोई कामना छिपी ही रहती है।

यह सकाम कर्म ही दुःख का जनक है। जिसके कर्म को हम अपने अन्तःकरण का स्वामी बनकर करते हैं, केवल वही हमें निष्काम बनाता है और आनन्द देता है।

निष्काम कर्म ही सर्वोत्तम

...अनेक लोग कहते हैं कि बिना कामना के तुम कर्म ही नहीं कर सकते। वे ऐसी बात कहते हैं; क्योंकि उन्होंने उन्मादी कट्टरता के प्रभाव के अतिरिक्त कहीं अन्य निष्काम कर्म देखा ही नहीं।

...निष्काम कर्म ही कर्म का सर्वोत्तम रूप है। कोई कामना नहीं- न धन की, न यश की, न किसी अन्य बात की। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तब वह बुद्ध बन जाता है। तब उसमें संसार को बदल देने वाली शक्ति-महाशक्ति का आविर्भाव होता है। वही व्यक्ति कर्म योग के सर्वोच्च आदर्श का प्रतीक बन जाता है।

...बुद्ध अकेले धर्म-प्रवर्तक थे जिन्होंने कहा- “मुझे ईश्वर-सम्बन्धी तुम्हारे ढेरों सिद्धान्तों को जानने की कोई उत्सुकता नहीं। आत्मा-सम्बन्धी इन जटिल एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों की चर्चा करने से लाभ ही क्या है? भले बनो और भलाई करो और इसी मार्ग पर चलकर तुम निर्वाण भी पा जाओगे और महासत्य का साक्षात्कार भी कर सकोगे। उन्होंने जीवन भर व्यक्तिगत कामनाओं से अलिप्त रहकर कार्य किया और उनसे अधिक कौन कार्य कर पाया है? इतिहास में मुझे कोई दूसरा उदाहरण बताओ जो उनसे अधिक ऊँचा उठ सका हो...”

...वे आदर्श कर्मयोगी थे, पूर्ण निष्काम थे। सम्पूर्ण मानव इतिहास में अब तक उनसे बड़ा महापुरुष पैदा नहीं हुआ। उनमें हृदय और मस्तिष्क का महानतम सम्मिलन हुआ, जिसकी कोई तुलना नहीं मिलती; आत्म-शक्ति की अब तक उससे महान अभिव्यक्ति नहीं हुई...

सूर्य समुद्र से जल ग्रहण करता है, किन्तु उसे वर्षा रूप में लौटाने के लिए। तुम भी आदान-प्रदान के एक यन्त्र मात्र हो। तुम ग्रहण करते हो, ताकि तुम दे सको। अतः बदले में कुछ मत माँगो; क्योंकि तुम जितना अधिक दोगे उतना ही अधिक पाओगे। तुम जितनी जल्दी इस कमरे की हवा खाली करोगे, उतने ही शीघ्र बाहरी हवा इसे भर देगी। यदि तुम सब दरवाजों और छिद्रों को बन्द कर दोगे, तब जो अन्दर है वह अन्दर रह जावेगी, किन्तु जो बाहर है वह कभी अन्दर न आ सकेगी। परिणामस्वरूप अन्दर की हवा स्थिर होकर गन्दी होती जायेगी और विषाक्त बन जायेगी। नदी का प्रवाह सतत् समुद्र में गिर रहा है। और सतत् भरता जा रहा है। उसका समुद्र में गिरने का द्वार अवरुद्ध मत करो। जिस क्षण तुम यह करोगे, मृत्यु तुम्हें पकड़ लेगी।

निष्काम कार्यकर्ता ही सर्वाधिक सफल होता है

प्रकृति और मानवता के लिए निष्काम भाव से किये गए कर्म से ही मनुष्य आसक्ति के बन्धन में नहीं फँसता।

जो मनुष्य स्वाधीन एवं प्रेम भाव से कर्म करता है वह फल की परवाह नहीं करता, किन्तु गुलाम कोड़ा लगने पर ही कर्म करने का अभ्यस्त होता है और सेवक अपना वेतन चाहता है। ऐसा ही सम्पूर्ण जीवन में होता है। उदाहरणस्वरूप सार्वजनिक जीवन को ही लें। सार्वजनिक वक्ता अपने श्रोताओं से थोड़ी प्रशंसा, फुसफुसाहट एवं तालियों की अपेक्षा करता है। यदि तुम उसे यह नहीं दे सकते तो तुम उसके उत्साह को ठण्डा कर दोगे; क्योंकि वह उसका भूखा रहता है। यह दासवत कार्य करना है। ऐसी परिस्थितियों में बदले में कुछ अपेक्षा रखना ही मनुष्य का स्वभाव बन जाता है।

प्रत्येक सफल मनुष्य के जीवन में अटूट निष्ठा, तीव्र प्रामाणिकता का कोई न कोई केन्द्र अवश्य रहता है और वही उसके जीवन में सफलता का मूल स्रोत होता है। हो सकता है वह पूर्णतया निःस्वार्थ न बन सका हो, किन्तु वह उस ओर बढ़ रहा है। यदि वह पूर्णतया निष्काम बन गया होता तो वह भी बुद्ध अथवा ईसा के समान सफलता के महान शिखर पर ही पहुँच गया होता। निःस्वार्थता की मात्रा के अनुपात में ही सफलता की मात्रा रहती है।

अस्तु, सच्ची सफलता और सच्चे सुख का महामन्त्र यही है। जो किसी प्रकार का प्रतिफल नहीं चाहता, ऐसा पूर्णतया निष्काम मनुष्य ही सबसे अधिक सफल रहता है। यह बड़ा विरोधाभास लगेगा। क्या हम नहीं जानते कि प्रत्येक निःस्वार्थी व्यक्ति को जीवन में धोखा मिलता है, हानि उठानी पड़ती है ऊपर से देखने पर यह सत्य है। “ईसा निःस्वार्थ थे, किन्तु उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया”, यह सच है, किन्तु हम जानते हैं कि उनकी निःस्वार्थता ही उनकी महान विजय का एकमेव कारण है, जिसके परिणामस्वरूप लाखों-लाख जीवनों को सच्ची सफलता के मुकुट ने सुशोभित किया।

इस क्षुद्र ‘मैं’ से मुक्ति पाओ

यह अहंभाव कि ‘मैंने अमुक किया’, ‘मैं अमुक कर रहा हूँ’, योग मार्ग का अवलम्बन करते समय शेष नहीं रहता। पाश्चात्य लोग यह बात नहीं समझ पाते। वे कहते हैं कि यदि अहंचेतना तनिक न रहे, यदि यह अहंभाव बिल्कुल समाप्त हो जाय तो मनुष्य काम ही कैसे कर सकता है? किन्तु जिस समय कोई मनुष्य स्वयं को बिल्कुल भुलाकर एकाग्र मन से कार्य करता है, उस समय जो कार्य होता है, वह लाख गुना अच्छा होता है। यह अनुभव हममें से प्रत्येक ने अपने जीवन में प्राप्त किया होगा।

हम भोजन पचाना आदि अनेक कार्य अनजाने में करते हैं, अनेक कार्य चेतना पूर्वक करते हैं और कुछ कार्य में जब हम अपने क्षुद्र 'अहं' को बिल्कुल भुला देते हैं, तब मानो समाधि अवस्था में पहुँच कर करते हैं।

यदि चित्रकार अपनी 'अहंचेतना' को बिल्कुल खोकर अपनी कलाकृति में ही पूर्णतया खो जाय, तो वह कला के अद्वितीय नमूने निर्माण कर सकेगा। जो योग के द्वारा उस महाप्रभु के साथ एक हो जाता है, वह अपने समस्त कार्यों को एकाग्र मन से करता है और किसी व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार कार्य करने से संसार का केवल भला ही होता है, उससे कभी हानि नहीं हो सकती। गीता का सन्देश है कि प्रत्येक कार्य इसी भावना से किया जाना चाहिए।

...व्यक्तिगत 'अहं' चेतना ही सुदृढ़ दीवार है जिसमें हम स्वयं को बन्द कर लेते हैं। हम प्रत्येक वस्तु का नाता अपने से जोड़ लेते हैं। सोचते हैं, मैंने यह किया, मैंने वह किया, मैंने क्या नहीं किया। इस क्षुद्र 'मैं' से छुटकारा पाओ, अपने अन्दर घुसी हुई इस पैशाचिकता को मार डालो। "मैं नहीं, तू ही" – यही कहो, यही अनुभव करो, उसके अनुसार ही जियो। जब तक हम 'अहं' – निर्मित इस संकुचित दुनिया का परित्याग नहीं कर देते, तब तक हम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते...।

शक्ति के पुञ्ज वे मौन पुरुष हैं, जो केवल जीवित रहते हैं और स्नेह करते हैं तथा चुपचाप अपने व्यक्तित्व को कर्मक्षेत्र से हटा लेते हैं वे कभी 'मैं' और 'मेरा' की रट नहीं लगाते। वे केवल निमित्त बनने में ही स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। ऐसे मनुष्यों में से ही ईसा और बुद्ध प्रकट होते हैं। वे मानव रूप में पूँजीभूत आदर्श मात्र होते हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

...परमात्मा ने स्वयं को सर्वोत्तम ढंग से छिपा रखा है, अतः उसका कार्य ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार जो अपने को सर्वोत्तम ढंग से पीछे रख सकता है, वही सबसे अच्छा और अधिक कार्य कर सकता है। अपने आप पर विजय पा लो तो समस्त विश्व तुम्हारा हो जायेगा।

आदर्श के लिए जियो

जो किसी बात की चिन्ता नहीं करता, उसके पास सब कुछ आप ही आप पहुँच जाता है। धन-सम्पत्ति तो चंचल नारी के समान है, वह उसकी परवाह नहीं करती जो उसे बहुत चाहता है। धन अपनी वर्षा उसके निकट आकर कर जाता है, जिसने उसकी

परवाह कभी नहीं की। इसी प्रकार लोक-प्रसिद्धि भी इतनी अधिक मात्रा में आती है कि वह सिरदर्द और भार बन जाती है। ये सब सदा स्वामी के पास जाते हैं। उनका दास कभी कुछ नहीं पाता। स्वामी वही है जो उनके बिना भी रह सके, जिसका जीवन संसार की क्षुद्र एवं मूर्खतापूर्ण चीजों पर निर्भर नहीं करता। केवल एक आदर्श के लिए जियो। उस आदर्श को इतना महान इतना शक्तिशाली बनाओ कि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ अन्तःकरण में रह ही न जाए। किसी अन्य वस्तु के लिए स्थान नहीं, किसी अन्य बात के लिए समय नहीं।

साधनों की महत्ता

अपने जीवन में मैंने सबसे बड़ा पाठ यह सीखा है कि अपने कार्य-साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान दो जितना उसके साध्य की ओर। सफलता का मूल रहस्य इसी में है कि साधनों को भी उतना ही महत्त्व दिया जाये जितना साध्य को।

हमारे जीवन की भारी कमी यह है कि हम आदर्श की ओर इतना अधिक खिंच जाते हैं, साध्य का जादू हम पर इतनी बुरी तरह सवार हो जाता है, वह हमें इतना मोह लेता है, वह हमारे मस्तिष्क में इतना बड़ा आकार धारण कर लेता है कि उसकी प्राप्ति के साधनभूत छोटी-छोटी बातें हमारी दृष्टि से बिल्कुल ओझल हो जाती हैं।

जब कभी असफलता मिलती है, तब यदि हम उसका आलोचनात्मक विश्लेषण करें तो नित्यानवे प्रतिशत मामलों में हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि साधनों की ओर हमारा ध्यान न देना ही उसका कारण है। आवश्यकता इस बात की है कि हम साधनों की पुष्टता एवं पूर्णता की ओर उचित ध्यान दें। यदि साधन बिल्कुल सही है तो साध्य प्राप्त होकर रहेगा। हम भूल जाते हैं कि कारण ही परिणाम का जनक होता है। परिणाम अपने आप पैदा नहीं हो जाता और जब तक कारण सही, अचूक और सशक्त नहीं होंगे, तब तक कोई परिणाम नहीं निकलेगा। एक बार यदि आदर्श को चुन लिया और साधनों का निर्णय कर लिया तो फिर यदि कुछ समय के लिए हम आदर्श को लगभग भूल भी जायें तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि हमें विश्वास है कि साधनों की पूर्णता के साथ उसकी सिद्धि अपरिहार्य है तो फिर कार्य की क्यों चिन्ता करें? कार्य-कारण नियम के अनुसार उसे तो होना ही है। हम कारण की चिन्ता करें, परिणाम अपनी चिन्ता स्वयं करेगा। आदर्श की प्राप्ति परिणाम मात्र है। साधन उसका कारण है। अतः साधनों की चिन्ता ही जीवन की सफलता की कुँजी है।

पूजागृह ही सब कुछ नहीं

एक बात जान लेना चाहिए; महान ऋषियों का जन्म संसार को कोई विशेष सन्देश देने के लिए होता है न कि अपना नाम चलाने के लिए। किन्तु उनके अनुयायी उनके उपदेशों को तो किनारे रख देते हैं, और केवल उनके नाम के लिए झगड़ा करने लगते हैं। यही संसार का अब तक का इतिहास बताता है। मेरा इस बात पर विशेष आग्रह नहीं कि लोग उनका (श्रीरामकृष्ण का) नाम स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, किन्तु मैं उनके उपदेशों, उनके चरित्र एवं उनके सन्देश को समस्त संसार में फैलाने के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने को भी तत्पर हूँ। मुझे सबसे अधिक डर जिस चीज से लगता है वह है, 'पूजागृह'। वह स्वयं में कोई खराब चीज नहीं है, किन्तु कुछ लोगों में प्रवृत्ति रहती है कि वे उसे ही सब कुछ मान लेते हैं और उस पुरातन पन्थी मूर्खता को पुनः स्थापित कर देते हैं। इस विचारमात्र से ही मैं घबरा जाता हूँ। मैं जानता हूँ कि वे पुराने, निर्जीव कर्मकाण्डों में क्यों स्वयं को व्यस्त रखते हैं। उनकी आत्मा कार्य करने के लिए तरसती है, किन्तु जब उनकी शक्ति को कोई सही मार्ग समझ में नहीं आता तो वे घण्टी बजाने आदि में ही अपनी शक्ति व्यर्थ कर देते हैं।

मतान्ध मत बनो

भारत के एक भिक्षु का कथन है, “मैं विश्वास कर लूँगा यदि तुम कहो कि मैं मरुस्थल के रेत को पीसकर तेल निकाल सकता हूँ, मगरमच्छ के मुँह में हाथ डाल कर उसके दाँत को बिना हाथ कटवाये तोड़ कर ला सकता हूँ, किन्तु यदि तुम कहो कि मतान्ध को भी बदला जा सकता है तो मैं कदापि विश्वास नहीं कर सकता।”

भारत के वैष्णव लोग, जो द्वैतवादी होते हैं, सबसे असहिष्णु सम्प्रदाय में आते हैं। एक अन्य द्वैतवादी सम्प्रदाय-शैवों में, घण्टकर्ण नामक एक भक्त के बारे में एक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है- घण्टकर्ण शिव का इतना कट्टर भक्त था कि वह किसी दूसरे देवता का नाम भी अपने कानों से नहीं सुनना चाहता था। अतः उसने अपने दोनों कानों में दो घण्टियाँ लटका ली थीं, ताकि यदि किसी अन्य देवता का नाम उसके कानों में पड़ने लगे तो वह घण्टियों के स्वर में उस नाम की ध्वनि को दबा दे। शिव के प्रति अकाट्य भक्ति होने के कारण शिव उसे यह समझाना चाहते थे कि शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। अतएव, वे उसके समक्ष आधा विष्णु और आधा शिव का शरीर धारण कर प्रकट हुए। उस समय वह भक्त अपने इष्टदेव का धूपार्चन कर रहा था। किन्तु उस घण्टकर्ण की मतान्धता इतने परले सिरे की थी कि ज्यों ही उसने देखा कि धूप की सुगन्ध

विष्णु की नाक में प्रवेश कर रही है, उसने अपनी अंगुली उसमें घुसेड़ दी ताकि विष्णु उस मधुर सुगन्ध का आनन्द न ले सकें।

कट्टरवादी मत बनो

कट्टरवादी अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ लोग सुरा के विरुद्ध कट्टर होते हैं, कुछ लोग सिगार के विरुद्ध। कुछ समझते हैं यदि लोग सिगार पीना छोड़ दें तो संसार में स्वर्णयुग आ जायेगा...। भारत में कुछ कट्टरवादी सुधारक सोचते हैं कि यदि कोई स्त्री अपने पति के मरने के पश्चात दूसरा विवाह कर लेगी तो सब बुराइयों का अन्त हो जायेगा। यह निरी कट्टरवादिता है।

बचपन में मैं भी यही सोचा करता था कि यह कट्टरवादिता कार्य का अनिवार्य अंग है। किन्तु अब बड़ा होने के पश्चात मुझे लगता है कि यह बात सही नहीं है।

...कोई व्यक्ति है जो सबको ठगता घूमता है; उस पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता। कोई स्त्री उसके निकट सुरक्षित नहीं है। किन्तु, हो सकता है यह दुष्ट शराब न पीता हो। यदि ऐसा हो, तो उसे किसी शराब पीने वाले में कोई अच्छाई नहीं दिखाई देगी। फिर ये सब राक्षसी कृत्य जिन्हें वह स्वयं करता है उसकी दृष्टि में कोई बुराई ही नहीं रखते। यह मानव प्रकृतिमूलक स्वार्थपरता एवं एकांगीपन है।

सौ में से नित्यानवे कट्टरवादियों का या तो यकृत विकृत होगा अथवा वे अतिमाद्य रोग से शिकार रहते होंगे या अन्य किसी बीमारी के। शनैः-शनैः चिकित्सकों की समझ में भी यह बात आ जायेगी कि यह कट्टरवादिता एक प्रकार की बीमारी है। मैं इसे बहुत देख चुका हूँ। ईश्वर ही इससे बचाये।

मेरे अनुभव का यह निचोड़ है और बुद्धिमानी इसी में है कि सब प्रकार के कट्टरपन्थी सुधारों से बचा जाये। संसार धीमी गति से बढ़ रहा है, उसे उसी गति से चलने देना चाहिए। हम जल्दी क्यों कर रहे हैं? अच्छे प्रकार से सोओ और अपने शरीर को स्वस्थ रखो। अच्छा भोजन करो और संसार के प्रति सहानुभूति रखो। कट्टरवादी केवल घृणा फैलाते हैं...

...जब तुम कट्टरवादियों की संगति से बाहर निकलोगे तभी तुम वास्तविक स्नेह और सहानुभूति का पाठ सीख सकोगे और स्नेह तथा सहानुभूति की मात्रा जैसे-जैसे तुम में बढ़ती जायेगी, इन बेचारे कट्टरवादियों की निन्दा-भर्त्सना करने की तुम्हारी प्रवृत्ति भी उतनी ही घटती जायेगी। उल्टे तुम्हें उनकी भूलों पर दया आयेगी।

...एक समय एक राजा ने जब यह सुना कि पड़ोसी देश का राजा उसकी राजधानी पर घेरा डालने के लिए आगे बढ़ रहा है, तो उसने शत्रु से देश की रक्षा के उपायों पर विचारार्थ एक जनसभा बुलायी। इंजीनियरों ने परामर्श दिया कि राजधानी के चारों ओर मिट्टी की एक ऊँची दीवार खड़ी कर दी जाय और उसके साथ-साथ एक चौड़ी खाई खोद दी जाए। मोर्चियों ने सुझाव दिया कि वह दीवार चमड़े की बनवाई जाए, क्योंकि “चमड़े से उत्तम कोई वस्तु नहीं है।” लोहार चिल्लाये, “नहीं, ये गलत कहते हैं, दीवार को लोहे से बनवाया जाए।” और तब वकीलों की बारी आयी। उन्होंने तर्क दिया कि राज्य की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय एक ही है कि शत्रु को वैधानिक तरीके से यह बतलाया जाये कि वह दूसरे की सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास एक अनुचित, एक गैरकानूनी अपराध कर रहा है। सबसे अन्त में पुरोहित आगे बढ़े। वे इन सब सुझावों पर उपेक्षा भरी हँसी के उपरान्त बोले, “तुम सब पागलों जैसी बातें कर रहे हो। सर्वप्रथम देवताओं को बलि देकर प्रसन्न करना चाहिए और तभी हम अजेय हो सकते हैं।” इस प्रकार राज्य की रक्षा करने के बजाय वे मूर्ख आपस में वाद-विवाद करते रहे और झगड़ते रहे। इसी बीच शत्रु आगे बढ़ आया, उसने आक्रमण कर राजधानी को ध्वस्त कर दिया। ऐसे होते हैं ये कट्टरवादी!

सब दुर्बलताओं और अन्धविश्वासों को त्यागो

मेरी शिक्षा का सर्वप्रथम पाठ यह है, ऐसी किसी भी चीज को जो आध्यात्मिक, मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता की जनक हो, उसे चिमटे से भी न छुओ। धर्म मनुष्य में विद्यमान जन्मजात शक्तियों की अभिव्यक्तिमात्र है। इस छोटे-से शरीर के भीतर प्रचण्ड शक्ति का स्रोत ही स्वयं को फैलाता है। जैसे-जैसे वह शक्ति का स्रोत फैलता जाता है, एक के बाद दूसरी देह अपर्याप्त होने लगती है। यह उन्हें त्यागकर यह जीवन श्रेष्ठ देह धारण करता जाता है। यही है मानव, धर्म, सभ्यता या प्रगति का सच्चा इतिहास...।

तुम देखोगे कि ज्योतिष आदि रहस्यवादी विधाएँ सामान्यतया दुर्बल मस्तिष्क के लक्षण होती हैं। अतः ज्यों ही वे तुम्हारे मस्तिष्क में महत्त्व पाने लगें, तुरन्त चिकित्सक के पास जाओ, अच्छा भोजन लो और विश्राम करो।

एक प्राचीन कथा है कि एक ज्योतिष एक राजा के पास आया और कहने लगा “तुम छः महीने में मर जाओगे।” राजा उसकी बात सुनकर इतना डर गया कि उसी क्षण डर के कारण मरने की स्थिति में पहुँच गया। किन्तु उसका मन्त्री बड़ा कुशल व्यक्ति था।

उसने राजा से कहा कि ये ज्योतिषी लोग मूर्ख होते हैं। राजा को उस पर विश्वास नहीं हुआ। तब मन्त्री ने राजा को यह दिखाने के लिए कि ज्योतिष मूर्ख होते हैं, एक उपाय सोचा। उसने ज्योतिष को पुनः राजमहल आने का निमन्त्रण भेजा। वहाँ उसने ज्योतिषी से पूछा कि क्या उसकी गणना बिल्कुल सही है। ज्योतिषी ने कहा, उसमें भूल हो ही नहीं सकती। किन्तु फिर भी मन्त्री को सन्तुष्ट करने के लिए उसने दोबारा गणना की और कहा कि वह बिल्कुल सही है। राजा का चेहरा भय से पीला पड़ गया। तब मन्त्री ने ज्योतिषी से कहा, “तुम्हारी गणना के अनुसार तुम्हारी अपनी मृत्यु कब आयेगी?” ज्योतिषी ने उत्तर दिया, “बारह वर्ष बाद।” मन्त्री ने तुरन्त अपनी कृपाण खींची और ज्योतिषी का सिर धड़ से पृथक् कर वह राजा से बोला, “देखा आपने उसका झूठ? वह तो इसी क्षण मर गया।” कठिनाइयों का निर्भय होकर सामना करो।

...एक बार जब मैं वाराणसी में था, मैं एक ऐसे स्थान से निकला, जिसके एक ओर विशाल जलाशय था और दूसरी ओर एक ऊँची दीवार। जमीन पर बहुत सारे बन्दर बैठे हुए थे। वाराणसी के बन्दर विशालकाय और शैतान होते हैं। उन पर यह भूत सवार हो गया कि मैं उनकी सड़क से न गुजर पाऊँ। उन्होंने घुड़कियाँ दिखाना, चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया और जैसे ही मैं उनके निकट से निकला, वे मेरे पैरों की ओर झपटे। जैसे-जैसे वे मेरे नजदीक आते गये, मैंने दौड़ना शुरू कर दिया, मैं जितनी तेजी से दौड़ता था, उतनी ही तेजी से बन्दर मेरी ओर झपटते थे और मुझे काट खाने को दौड़ने लगे उनसे बचकर निकलना असम्भव-सा लगने लगा। तभी एक परिचित व्यक्ति ने पुकारकर मुझसे कहा, “इन दुष्टों के सामने डटे रहो।” मैं मुड़कर बन्दरों के सामने डट गया। तब वे पीछे हट गये और आखिर में भाग गये। इस शिक्षा की जीवनभर के लिए गाँठ बाँध लेनी चाहिए। मुसीबतें भी अपने आप भाग जायेंगी...जब हम स्वयं उनके सामने से भागना बन्द कर देंगे।

दो प्रकार का साहस

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार है तोप के सामने अड़ जाना। दूसरा प्रकार है आध्यात्मिक विश्वासों पर डटे रहना। एक सम्राट ने भारत पर आक्रमण किया। उसके गुरु ने आदेश दिया था कि वह भारत के कुछ संन्यासियों से अवश्य मिले। बहुत खोज करने के बाद उसे एक सन्त एक शिला पर बैठा हुआ दिखायी पड़ा। सम्राट ने उससे थोड़ी बात की। वह उस संन्यासी के ज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसने संन्यासी से आग्रह किया कि वह उसके साथ उसके देश को चले। संन्यासी ने कहा, “नहीं”, मैं यहाँ इस जंगल में पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ। सम्राट ने कहा, “मैं तुम्हें धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा

सब कुछ दूँगा। मैं विश्व का सम्राट हूँ।” इस पर संन्यासी ने उत्तर दिया, “नहीं मैं इन चीजों का भूखा नहीं।” तब सम्राट ने धमकी दी- “यदि तुम नहीं चलोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा।” तब वह संन्यासी उपेक्षापूर्वक मुस्कराया और बोला “ऐ सम्राट! यह तुमने सबसे बड़ी मूर्खतापूर्ण बात कही। तुम मुझे नहीं मार सकते। मुझे न सूर्य सूखा सकता है, न अग्नि जला सकती है, न तलवार काट सकती है; क्योंकि मैं अजन्मा, अमर, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान आत्मा हूँ।” यह है आध्यात्मिक निर्भीकता। दूसरे प्रकार का साहस सिंह या व्याघ्र का साहस है...

वीर और उदार बनो

एक बार मैंने एक घटना पढ़ी कि कुछ जहाज दक्षिणी समुद्र द्वीपों में तूफान में घिर गए। इस घटना का एक चित्र ‘इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज’ नामक समाचार पत्र में छपा भी था। वे सभी जहाज ध्वंस हो गए। केवल एक इंग्लिश जहाज तूफान की टक्कर झेलकर भी बचा रह गया। उस चित्र में दिखाया गया था कि जो लोग समुद्र में डूबने जा रहे थे, वे अपने डूबते जहाज पर खड़े होकर उन साथियों को जिनका जहाज तूफान की चपेट से बच निकला था, हर्षध्वनि द्वारा विदाई दे रहे थे। इतने वीर और उदार बनो। अन्यो को उस गड्ढे में मत खींचो जिसमें तुम स्वयं गिर पड़े हो।

प्रसन्नतापूर्वक सहन करो

यदि तुम संसार का भार उठाने के लिये सचमुच तत्पर हो तो प्रसन्नतापूर्वक उठाओ। किन्तु, हमारे कानों में तुम्हारी कराहों और अभिशापों की ध्वनि नहीं पड़नी चाहिए। हमें अपनी मुसीबतों से डराओ मत, ताकि हम समझने लगे कि हम ही अपनी मुसीबतों के साथ तुमसे ज्यादा सुखी है। जो मनुष्य वास्तव में बोझा उठाता है, वह संसार को धन्यवाद देता हुआ चुपचाप अपने मार्ग पर चलता है। उसके मुख से निन्दा, भर्त्सना या आलोचना का एक शब्द नहीं निकलता। इसलिए नहीं कि कहीं कोई बुराई नहीं है, बल्कि उसने स्वेच्छा से, स्वयंप्रेरणा से उस बोझ को अपने कंधों पर उठाया है। उद्धारक को अपने मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलना चाहिए। जिन लोगों के लिए उसने जन्म लिया, कष्ट उठा रहा है वे अपनी दुर्बलता का प्रदर्शन करते रहेंगे।

न तो कष्टों को निमन्त्रण दो और न उनसे भागो। जो आता है, उसे झेलो। किसी चीज से प्रभावित न हो वही मुक्ति है। केवल झेलो ही मत, अलिप्त भी रहो।

‘सुख मिलने वाला है’ - बहुत अच्छी बात। उसे किसने मना किया? दुःख आने वाला है, उसका भी स्वागत। उस बैल की कथा स्मरण रखो। एक मच्छर को एक बैल के

सींग पर बैठे हुए बहुत देर बीत गयी। तब उसके दिल में कुछ चुभा और वह बैल से बोला, “श्रीमान् बैल! मैं बहुत देर से यहाँ बैठा हुआ हूँ, शायद इससे आप रुष्ट हो गए होंगे। मुझे इसका खेद है। अब मैं चला जाता हूँ।” किन्तु बैल ने उत्तर दिया, “नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं। तुम अपने पूरे परिवार को ले आओ और मेरे सींग पर रहो। तुम मेरा बिगाड़ ही क्या सकते हो?” यही उत्तर हम आपदाओं को भी क्यों न दें?

भूलें और असफलताएँ : वरदानस्वरूप

विचार ही हमारी मुख्य प्रेरणा शक्ति होते हैं। मस्तिष्क को उच्चतम विचारों से भर दो। प्रतिदिन उनका श्रवण करो, प्रतिमाह उनका चिन्तन करो। असफलताओं की चिन्ता मत करो। वे स्वाभाविक हैं। वे जीवन के सौन्दर्य हैं। उनके बिना जीवन में रह ही क्या जायेगा। यदि संघर्ष न हो तो जीवन को पाने का उपयोग ही क्या? जीवन की कविता ही तब कहाँ रह जायेगी? संघर्षों की, भूलों की चिन्ता मत करो। मैंने कभी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना। किन्तु वह केवल गाय है। मनुष्य कभी नहीं। अतः, इन असफलताओं की परवाह मत करो। अगर थोड़ा पीछे फिसल ही गए तो क्या हुआ? आदर्श को पकड़ने के लिए सहस्र बार आगे बढ़ो और यदि तुम सहस्र बार असफल हो जाओ, फिर भी एक नया प्रयास अवश्य करो।

संसार में कोई चीज बिल्कुल भी बुरी नहीं है। यदि यहाँ शैतान है तो ईश्वर भी है अन्यथा वह होता ही नहीं।

हमारी भूलों का भी स्थान है। बढ़े चलो। यदि तुम सोचते हो कि तुमने कोई अनुचित कर्म कर दिया है तो भी पीछे मत देखो। क्या तुम्हें विश्वास है कि यदि तुमने ये गलतियाँ पहले न की होतीं तो तुम वह बन पाते जो आज हो? तो अपनी गलतियों को धन्यवाद दो। वे अनजाने में वरदान बनकर आयीं। कष्टों को भी धन्यवाद! सुखों को भी धन्यवाद!! तुम्हारा क्या होगा इसकी चिन्ता मत करो। आदर्श पर डटे रहो। आगे बढ़ो। छोटी-छोटी गलतियों और चीजों की ओर पीछे मत निहारो। इस जीवन-संग्राम में भूलों का गर्द-गुब्बार उठेगा ही। जो इतने नाजुक हैं कि इस गर्द-गुब्बार को भी नहीं सहन कर सकते, वे पंक्ति के बाहर निकलकर खड़े हो जायें।

अपने देवत्व को पहचानो

मैं हिमालय पर यात्रा कर रहा था। लम्बा मार्ग हमारे सामने फैला पड़ा था। हम धनहीन भिक्षुकों को ढोने के लिए कौन मिल पाता? अतः, हमें पूरी यात्रा पैदल ही पार करनी थी। हमारे साथ एक वृद्ध पुरुष भी थे। सैकड़ों मील तक वह मार्ग ऊपर चढ़ता था,

नीचे उतरता था। जब उन वृद्ध भिक्षु ने यह सब देखा तो वे बोले, “ओह, मैं कैसे मार्ग पार कर पाऊँगा? मैं अब अधिक नहीं चल सकता। मेरा दम टूट रहा है।” मैंने उनसे कहा, “यह सड़क जो आपके पैरों के नीचे है, वही है जिसको आपने अब तक पार किया है और यही वह सड़क है जो आप अपने सामने देख रहे हो। यह भी शीघ्र ही तुम्हारे पैरों के नीचे आयेगी।” सर्वोत्तम वस्तुएँ भी तुम्हारे पैरों के नीचे हैं; क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। ये सब चीजें तुम्हारे पैरों के नीचे हैं। यदि तुम चाहो तो नक्षत्रों को भी निगल सकते हो। यह है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। बलवान बनो, समस्त अन्धविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त हो जाओ।

मौन व अविरत कार्य

बड़ा स्थान पाकर कोई भी बड़ा बन सकता है। रंगमंच के लड्डुओं के प्रकाश में कायर भी वीर बन सकता है। संसार उसे देखेगा। किसका हृदय नहीं उछल पड़ेगा? जब तक अपने से सर्वोत्तम बन पड़ता है, तब तक किसकी नाड़ियों की गति तीव्र नहीं रहती, किन्तु उत्तरोत्तर मुझे उस कीड़े में सच्ची महानता के दर्शन हो रहे हैं जो अपना कर्तव्यपालन चुपचाप एवं अविराम गति से प्रतिक्षण, प्रतिपल करता रहता है। एक प्राचीन कथा इस प्रकार है कि एक नन्हीं-सी गिलहरी बार-बार रेत में लोटती थी और दौड़कर सेतु की ओर जाती थी, वहाँ अपना शरीर झाड़कर फिर रेत में आ जाती थी। इस प्रकार वह भी भगवान राम के सेतु-निर्माण यज्ञ में अपना अकिंचन योग दे रही थी। बन्दर उसे देखकर हँस पड़े; क्योंकि वे पूरे पहाड़, पूरे जंगल, रेत के विशाल ढेर सेतु के लिए उठा-उठा कर ला रहे थे। अतः, वे उस नन्हीं-सी गिलहरी पर हँसे जो रेत में लोटकर अपने शरीर पर लगे रेत को पुल पर झाड़ आती थी। किन्तु राम ने जब उसे देखा तो उन्होंने कहा- “धन्य है यह नन्हीं-सी गिलहरी। वह अपनी शक्ति से अधिक कार्य कर रही है। अतः वह भी उतनी ही महान है जितना तुममें से अन्य कोई।” तब उन्होंने गिलहरी की पीठ पर स्नेहपूर्वक थपकी दी और राम की अंगुलियों के निशान आज भी गिलहरी की पीठ पर देखे जा सकते हैं।

प्रत्येक कर्तव्य पवित्र है

प्रत्येक कर्तव्य पावन है और कर्तव्यनिष्ठा ईश्वरोपासना का सर्वोत्तम प्रकार है। जो कर्तव्य हमारे बिल्कुल समीप है, जो कर्तव्य हमारे हाथों में है उसे अच्छी प्रकार करके हम स्वयं को ही बलवान करते हैं और इस प्रकार एक-एक पग पर अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए हम उस अवस्था में पहुँच जायेंगे जब हमें जीवन तथा समाज में सबसे जटिल और सम्मानित कर्तव्यों के पालन करने का सुअवसर भी प्राप्त होगा।

हम उस स्थान पर पहुँच जायेंगे जिसके हम योग्य हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान निश्चित होता है। यदि किसी में दूसरे से अधिक क्षमता है तो संसार उसका भी पता लगा लेगा। इस विश्व-व्यवस्था में ऐसा ही होता आया है। अतः असन्तुष्ट रहने से कोई लाभ नहीं। कोई धनी व्यक्ति दुष्ट हो सकता है, किन्तु उसमें कुछ गुण भी अवश्य होंगे, जिन्होंने उसे धनवान बनाया। यदि किसी दूसरे व्यक्ति में भी वे ही गुण हों तो वह भी धनी बन जायेगा। तब झगड़ा करने और शिकायत करने से लाभ ही क्या? उससे हमें अच्छी बातों की ओर बढ़ने में सहायता नहीं मिलेगी।

प्रत्येक कर्तव्य में रस लो; उसे कोसो मत

जो अपने हिस्से में आये हुए छोटे-से काम को करते समय भी बुदबुदाता है, वह हरेक काम में बुदबुदायेगा। सदैव बुदबुदाते हुए वह एक दुःखपूर्ण जीवन बितायेगा और प्रत्येक कार्य में असफल होगा। किन्तु वह व्यक्ति जो अपने कर्तव्य को पूरी शक्ति के साथ करता रहेगा, पहिये में अपना कन्धा लगाये रहेगा, अन्त में वह अवश्य ही फल पायेगा और अधिकाधिक उत्तरदायित्व निभाने का अवसर उसे मिलेगा।

फल के प्रति आसक्ति रखने वाला कार्यकर्ता ही अपनी पूरी शक्ति के साथ उत्तरदायित्वों को निभाने में हिचकिचाहट दिखाता है। निरासक्त कार्यकर्ता के लिए सब कर्तव्य बराबर हैं, अच्छे हैं। प्रत्येक कर्तव्य उसके लिए स्वार्थ और विषयलोलुपता का उन्मूलन करने के लिए एक सुन्दर अस्त्र बनकर आता है, उसके द्वारा वह आत्मा की मुक्ति प्राप्त करता है।

असन्तोषी को सब कर्तव्य अरुचिकर लगते हैं। वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकेगा और उसका सम्पूर्ण जीवन असफलता की कहानी बनकर रहेगा। हम कर्म करते चलें, जो कार्य हमारे हिस्से में आये उसे करें और कार्य के चक्र में अपना कन्धा लगाये रहें, तब हमें उस ज्योतिर्मय के दर्शन होना निश्चित है।

कोई कार्य तुच्छ नहीं। यदि मनपसन्द कार्य मिल जाये तो मूर्ख भी उसे पूरा कर सकता है, किन्तु बुद्धिमान पुरुष वही है जो प्रत्येक कार्य को अपने लिये रुचिकर बना ले।

इस संसार में प्रत्येक वस्तु वटवृक्ष के बीज के समान है, जो यद्यपि देखने में तो सरसों के दाने के समान लघु दीख पड़ता है, तथापि अपने अन्दर विशाल वटवृक्ष को छिपाये हुए है। सचमुच महान वही है जो यह बात परखकर प्रत्येक कार्य को महान बनाने में सफलता प्राप्त कर दिखाये।

आत्मनिरीक्षण करो, अन्य को दोष मत दो

हमें यह जान लेना चाहिए कि हम तब तक कुछ नहीं बन सकते, जब तक हम स्वयं ही उसके लिए तैयार न हों। जब तक शरीर की तैयारी न हो, कोई रोग पास नहीं फटक सकता। रोग का आगमन केवल कीटाणुओं पर ही नहीं निर्भर करता, अपितु शरीर में उनके लिए विद्यमान अनुकूलता पर भी निर्भर करता है। हम जिसके योग्य हैं, वही हमें मिलता है। हम अपना घमण्ड छोड़ें और इस बात को समझ लें कि अकारण दुःख कभी नहीं आता। कोई आघात बिना उसका पात्र बने नहीं लगता। कोई बुराई ऐसी नहीं थी, जिसके लिये मैंने अपने हाथों रास्ता तैयार न किया हो, यह हमें समझ लेना चाहिए।

अपना विश्लेषण करो तो तुम्हें पता लग जायेगा कि तुम्हें प्रत्येक आघात इसलिए मिला क्योंकि तुमने स्वयं को उसके लिए तैयार किया। आधा कार्य तुमने किया, शेष आधा बाह्य जगत् ने पूरा कर दिया। इस तरह तुम्हें आघात मिला। यह हानि होने पर हम विनम्र हो सकेंगे। साथ ही, इस आत्मविश्लेषण में से आशा का स्वर भी सुनाई देगा। वह स्वर है - बाह्य जगत् पर भले ही मेरा कोई वश न चलता हो, किन्तु अपने आन्तरिक जगत् पर, जो मेरे अत्यन्त निकट है, मेरे अन्दर ही है, तो मेरा नियन्त्रण चल सकता है। यदि किसी असफलता के लिए इन दोनों का संयोग होना आवश्यक है, यदि मुझे आघात लगाने के लिए दोनों का मिलन होना अनिवार्य है तो मैं अपने अधिकार के जगत् को इस कार्य में योग नहीं देने दूँगा। तब भला आघात क्यों आकर लग सकेगा? यदि मैं सच्चा आत्मनियंत्रण पा लूँ तो मुझे आघात कभी नहीं लगेगा।

अतएव, अपनी भूलों के लिए किसी को दोष मत दो, अपने पैरों पर खड़े होओ, और सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लो। कहो, “यह विपदा जिसे मैं झेल रहा हूँ मेरी अपनी करनी का फल है। और इसी से सिद्ध है कि इसे मैं स्वयं ही दूर करूँगा। जिसकी रचना मैंने की, उसका विनाश मैं कभी नहीं कर पाऊँगा।” अतः उत्तिष्ठत। निर्भीक बनो, समर्थ बनो। सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर संभालो और समझ लो कि तुम ही अपने भाग्यविधाता हो। जितनी शक्ति और सहायता तुम्हें चाहिए, वह सब तुम्हारे अन्दर ही है। अतः, अपना भविष्य स्वयं बनाओ। “मृत अतीत को दफना दो,” अनन्त भविष्य तुम्हारे सामने है। सदैव स्मरण रखो कि प्रत्येक शब्द, विचार और कृति तुम्हारे भाग्य का निर्माण करता है। जिस प्रकार बुरे कर्म और विचार व्याघ्र के समान तुम्हारे ऊपर झपटने को तैयार हैं, उसी प्रकार एक आशा की किरण भी है कि अच्छे कर्म और विचार सहस्रों देवदूतों की शक्ति से तुम्हारी सदा-सर्वदा रक्षा करने को भी तत्पर है।

स्वयं अपने भाग्य-निर्माता

बिना अधिकारी बने कोई कुछ नहीं पा सकता। यही सनातन नियम है। कभी-कभी हमें ऐसा लगता होगा कि शायद यह सही नहीं है, किन्तु अन्ततोगत्वा हमें इसका विश्वास होकर रहेगा। कोई व्यक्ति जीवनभर धनी बनने के लिए छटपटाता रहे, उसके लिये सहस्रों लोगों को ठगे, किन्तु अन्त में एक दिन वह देखता है कि शायद वह धनवान बनने के योग्य ही नहीं था और अपना सम्पूर्ण जीवन उसे भार या विपदा दिखाई देता है। हम भले ही अपने इन्द्रिय-सुख के लिए अनेकों साधनों को जमा करते रहें, किन्तु उनमें से केवल वही हमारा है जिसे हमने अर्जित किया है। एक मूर्ख संसार की समस्त किताबें खरीद डाले और वे सब उसके पुस्तकालय में सजी रहें, किन्तु वह उनमें से केवल उतनी ही पढ़ पायेगा जितने का वह अधिकारी है और यह अधिकार कर्म द्वारा उत्पन्न होता है?

हमारा कर्म निर्णय करता है कि हमारा कितना अधिकार है और हम कितना आत्मसात् कर सकते हैं। स्वनिर्माण की शक्ति हमारे पास है। हम आज जो कुछ हैं यदि यह हमारे पिछले कर्मों का परिणाम है तो इससे निश्चित तर्क निकलता है कि जो हम भविष्य में कुछ बनना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कर्मों का परिणाम होगा। अतः, हमें विचार करना चाहिए कि हम कैसे कर्म करें।

सहायता भीतर से मिलेगी

हम रेशम के कीड़ों के तुल्य हैं। हम अपनी देह में से ही धागा कातते हैं और अपने चारों ओर एक कोश बुन लेते हैं और फिर कुछ समय पश्चात् उसके अन्दर बन्दी हो जाते हैं, किन्तु यह सदा नहीं रहेगा। उस कोश के भीतर रहकर हम आध्यात्मिक साक्षात्कार कर लेंगे और तितली के समान मुक्त होकर बाहर निकल आयेंगे। कर्म का यह ताना-बाना सबने अपने चारों ओर पूरा कर लिया है। अज्ञानवश हम समझते हैं कि हम बन्धन में पड़े हैं और तब सहायता के लिए चीखते-पुकारते हैं। किन्तु, सहायता बाहर से नहीं आती। वह हमारे अन्दर से ही आवेगी। चाहे तुम विश्व के समस्त देवताओं का नाम लेकर चिल्लाओ, पुकारो। मैं भी वर्षों तक चिल्लाया। अन्त में मैंने पाया कि मुझे सहायता मिली, किन्तु वह मेरे अन्दर से आयी। जो कुछ मैंने भूलें की थीं, उनका मुझे निराकरण करना पड़ा। यही एकमेव मार्ग है। मुझे उस जाल को काटना पड़ा, जो मैंने अपने चारों ओर बुन लिया था और उसे काटने की शक्ति अपने अन्दर ही विद्यमान है। मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे विगत जीवन की एक भी अच्छी या बुरी कामना व्यर्थ नहीं गई और आज मैं जो कुछ भी हूँ, अपने सम्पूर्ण अतीत (भले या बुरे) का ही परिणाम हूँ। मैंने जीवन में अनेक भूलें की हैं, किन्तु ध्यान दो, मुझे निश्चय है कि

उनमें से प्रत्येक भूल को किये बिना मैं वह नहीं बन पाता, जो आज हूँ और इसीलिए मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मैंने वे भूलें कीं। मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि तुम घर वापस जाकर जानबूझकर गलतियाँ करना शुरू कर दो। मेरे कथन का यह गलत अर्थ मत लगाओ। किन्तु, जो भूलें तुमसे हो चुकी हैं, उनके लिए खिन्न मत होओ। स्मरण रखो कि अन्त में सब कुछ ठीक हो जायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारी प्रकृति ही शुद्ध-बुद्ध हैं और वह प्रकृति नष्ट नहीं की जा सकती। हमारी मूल प्रकृति सदा वही बनी रहती है।

सच्चरित्र का निर्माण

मनुष्य मानो एक केन्द्र है जो अपने चारों ओर से ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियों को आकर्षित कर रहा है। इस केन्द्र में से समस्त शक्तियाँ समाहित होकर पुनरपि एक शक्ति-प्रवाह के रूप में वहां से वापस लौट रही हैं।

पाप-पुण्य, दुःख-सुख सब उसकी ओर दौड़ रहे हैं और उससे चिपट रहे हैं। उन्हीं में से वह प्रवृत्तियों की उस प्रबल धारा का निर्माण करता है, जिसे चरित्र कहते हैं तथा उसे प्रकाशित करता है। जिस प्रकार उसमें सब कुछ आकर्षित करने की शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार उसे विकीर्ण करने की शक्ति भी विद्यमान है।

यदि कोई मनुष्य लगातार अशुभ बातें सुन, अशुभ चिन्तन करे, अशुभ कर्म करे तो उसका अन्तःकरण बुरे संस्कारों से मलिन हो जायेगा। वे उसके अनजाने में ही उसके समस्त विचारों और कार्यों को प्रभावित करेंगे। वास्तव में, ये कुसंस्कार सदैव कार्यशील बने रहते हैं और उनका परिणाम होता है केवल अनिष्ट कर्म और भला मनुष्य भी बुरा मनुष्य बन जाता है। वह उसे रोक नहीं सकता। ये समस्त संस्कार एकत्रित होकर उसके अन्दर बुरे कर्मों के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न कर देंगे। वह इन संस्कारों के हाथ की कठपुतली बन जायेगा और वे उसे निरन्तर दुष्कर्म की ओर ढकेलेंगे।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य शुभ चिन्तन करता है, शुभ कर्म करता है, तो उनके संस्कारों का संचय शुभ होगा। ये शुभ संस्कार ठीक उसी प्रकार उसे उसकी इच्छा के विपरीत भी सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य अत्यधिक शुभ कर्म एवं शुभ चिन्तन कर चुका होता है, तो उसमें अपनी इच्छा के विपरीत भी शुभ कर्म करने की अप्रतिहत प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि वह पाप कर्म करना चाहे तो भी उसका मन उसकी प्रवृत्तियों से बँधा होने के कारण, उसे वह पापकर्म करने की अनुमति नहीं देगा। उसकी प्रवृत्तियाँ उसे वापस लौटा लायेंगी; क्योंकि वह पूर्णतया शुभ प्रवृत्तियों के वशीभूत है।

जब ऐसी स्थिति पहुँच जाये, तभी जानना चाहिए कि मनुष्य में सच्चरित्र दृढ़मूल हो गया है।

जब कोई मनुष्य पिआनो पर कोई धुन बजाना सीखता है तो प्रारम्भ में वह प्रत्येक पर्दे पर अपनी अंगुलियाँ समझ-समझ कर रखता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि अंगुलियों का चलना उसका स्वभाव न बन जाय। बाद में वह उस धुन को प्रत्येक पर्दे की ओर ध्यान दिये बिना ही सरलतापूर्वक बजा लेता है। इसी प्रकार, हम अपने बारे में भी देख सकते हैं कि हमारी वर्तमान प्रवृत्तियाँ हमारे पिछले विचारपूर्वक किये गये कर्मों का परिणाम है।

आत्म-संयम की शक्तियाँ

जब हम अपनी भावनाओं को खुला छोड़ देते हैं, तब हम अपनी बहुत-सी शक्ति नष्ट करते हैं। हमारे स्नायु क्षीण होते हैं, मन चंचल रहता है और बहुत थोड़ा कार्य हो पाता है। जो शक्ति कार्य करने में व्यय होनी चाहिए थी, वह निरर्थक ही भावना के रूप में नष्ट हो गई जिसका कोई उपयोग नहीं हुआ। जिस समय मन पूर्णतया स्थिर एवं एकाग्र होता है, तब उसकी पूरी शक्ति शुभ कार्य करने में व्यय होती है। यदि तुम संसार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ो, तो तुम्हें पता चलेगा कि वे अद्भुत स्थिर व्यक्ति थे। कोई भी वस्तु मानो उनके सन्तुलन को भंग नहीं कर सकती थी। यही कारण है कि जिस व्यक्ति को कोई मुद्दा नहीं बना सकता, वह बहुत अधिक कार्य कर जाता है। जो मनुष्य क्रोध, ईर्ष्या या अन्य किसी विकार का दास बन जाता है, वह कार्य नहीं कर सकता, वह अपने स्वयं के खण्ड-खण्ड कर डालता है और कोई ठोस कार्य नहीं करता। शान्त, क्षमाशील, सन्तुलित एवं स्थिर मन ही सबसे अधिक कार्य कर पाता है।

विकारों की प्रत्येक लहर पर विजय से तुम्हारे सामर्थ्य में वृद्धि होती है। अतएव, क्रोध के बदले क्रोध न करना भी अन्य नैतिक कार्यों के समान ही उपादेय नीति है। ईसा ने कहा था, “बुराई का प्रतिरोध मत करो।” हम इस सन्देश को तब तक नहीं समझ सकेंगे, जब तक हम यह न खोज लें कि यह केवल नैतिक दृष्टि से ही उचित नहीं, अपितु सर्वाधिक फलदायी नीति भी है क्योंकि क्रोध को अपनाने वाले की अपनी शक्ति का ही हास होता है। तुम्हें अपने मन को क्रोध और घृणा आदि की विकार-तरंगों के वशीभूत नहीं होने देना चाहिए।

एक चार घोड़ों की बग़ी पहाड़ी के ढाल पर अनियन्त्रित हो लुढ़क जाये अथवा सारथी उसके घोड़ों को नियन्त्रण में रखे? शक्ति की किसमें अधिक अभिव्यक्ति है-

घोड़ों को खुली छूट देने में या उन पर नियन्त्रण रखने में? एक बम का गोला हवा में दूर तक उठता जाता है और अन्त में धरती पर गिर पड़ता है। दूसरा गोला मार्ग में दीवार से टकरा जाने के कारण वहीं रह गया, किन्तु उन दोनों की टक्कर से अत्यधिक ताप शक्ति पैदा होती है। स्वार्थ हेतु को लेकर जो शक्ति तुमसे बाहर जाती है, उसमें तुम्हारे पास वापस कुछ नहीं लौटता, किन्तु यदि उसे संयमित कर लिया गया होता तो काफी वर्द्धित होकर लौटती।

इस आत्म-नियन्त्रण के द्वारा वह प्रबल इच्छाशक्ति व चारित्र्य पैदा होते हैं जिनमें से ईसा या बुद्ध पैदा होते हैं।

यदि क्रोध की एक बड़ी लहर मन में उठे, तो उस पर हम कैसे नियन्त्रण करें? ठीक उसकी विरोधी लहर उत्पन्न कर, अर्थात् प्रेम भाव को उद्दीपित करो। कभी कोई स्त्री अपने पति से बहुत नाराज हो जाती है, और यदि उसी स्थिति में नन्हा शिशु वहाँ आ जाय तो माँ उस बच्चे को प्रेम से चूम लेती है, पुरानी लहर मर जाती है और बच्चे के लिए प्रेम की एक नयी लहर जन्म ले लेती है। वह दूसरी लहर को दबा देती है। प्रेम क्रोध का प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार, जब मन में चोरी का भाव उठे, तब चोरी न करने के भाव का चिन्तन करना चाहिए। जब उपहार पाने की कामना मन में जगे, तब उसे उसके विरोधी विचार से दबा दो।

आदर्श पुरुष वह है जो अधिकतम नीरवता और एकान्त में भी तीव्र क्रियाशीलता प्रकट करता है और जो तीव्र क्रियाशीलता के बीच भी मरुस्थल की निस्तब्धता और एकान्तता का अनुभव करता है। उसने संयम का रहस्य सीख लिया है और अपने ऊपर नियन्त्रण पा लिया है। किसी बड़े नगर की कोलाहलपूर्ण सड़कों पर घूमते हुए भी उसका मन इतना शान्त रहता है, जैसे मानो वह ऐसी कन्दरा में बैठा हो जहाँ ध्वनि भी उसके निकट नहीं पहुँच सकती, तब भी इस पूरे समय में अति क्रियाशील रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है और यदि तुम यह आदर्श प्राप्त कर सको तो समझ लो कि तुमने कर्म का रहस्य जान लिया।

सच्चे विचारों की शक्ति

गौतम बुद्ध के जीवन में हम उन्हें सदैव यह कहते हुए पाते हैं कि वे पच्चीसवें बुद्ध हैं। उनसे पूर्वकालीन चौबीस बुद्ध इतिहास को अज्ञात हैं, यद्यपि इतिहास को ज्ञात बुद्ध ने अपने जीवन उन चौबीस बुद्धों द्वारा निर्मित नींव पर ही खड़ा किया होगा।

महानतम् पुरुष शान्त, मौन और अज्ञात रहते हैं। वे लोग ही वस्तुतः विचारों की शक्ति को जानते हैं। उन्हें विश्वास रहता है कि यदि वे किसी गुफा में प्रवेश कर द्वार बन्द

कर लें और केवल पाँच सच्चे विचारों का चिन्तन कर अपनी देह को त्याग दें, तो उनके ये पाँचों विचार अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। सच, ऐसे विचार पर्वतों को भेदकर, समुद्रों को लाँघकर संसार भर में व्याप्त हो जायेंगे। वे मानव-हृदयों और मस्तिष्कों में गहरे प्रवेश कर जायेंगे। सहस्रों नर-नारियों को कर्म-चेतना से भर देंगे। और वे उन विचारों को मानव-जीवन के क्रियाकलापों में व्यावहारिक अभिव्यक्ति करके दिखायेंगे।

तुम स्वयं ऋषि बनो

तुम्हें केवल पुराने ऋषियों के उपदेश को सीखने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। वे ऋषि जा चुके और उनके साथ ही उनके मत भी। तुम्हें स्वयं ऋषि बनना होगा। तुम भी उसी प्रकार मनुष्य हो, जिस प्रकार अब तक उत्पन्न हुए समस्त महापुरुष यहाँ तक कि अवतार भी, मनुष्य थे। केवल ग्रन्थ-पाठ से क्या बनेगा? केवल ध्यान-धारणा भी क्या कर पायेगी? मन्त्र-तन्त्र भी कल्याण नहीं कर सकेंगे। तुम्हें अपने पैरों पर ही खड़े होना होगा।

सच्चा मानव

तुम्हें इस नयी प्रणाली को, मनुष्य-निर्माण की प्रणाली को, अपनाना ही होगा। सच्चा मनुष्य वह है जो मूर्तिमन्त पौरुष के समान सामर्थ्यशाली हो, किन्तु साथ ही नारी जैसे कोमल अन्तःकरण से भी युक्त हो। तुममें अपने चारों ओर रहने वाले लक्षावधि प्राणियों के प्रति सहानुभूति तो हो, किन्तु उसके साथ ही तुम दृढ़ एवं कर्तव्य-कठोर भी बनो। तुममें आज्ञाकारिता भी अवश्य रहे। भले ही ये बातें तुम्हें परस्पर विरोधी लगें, किन्तु ऊपर से परस्पर विरोधी दिखने वाले इन गुणों को अपनाना ही होगा। यदि तुम्हारा वरिष्ठ तुम्हें नदी में कूद कर एक मगर को पकड़ने का आदेश दे तो भी तुम पहले उसकी इस आज्ञा का पालन करो और बाद में तर्क-वितर्क करो। यदि कोई आज्ञा गलत हो, तब भी पहले उसका पालन करना चाहिए, बाद में उसके औचित्य का खण्डन।

सम्प्रदायों का मुख्य अभिशाप यह है कि यदि किसी का थोड़ा भी भिन्न मत हुआ तो वह तुरन्त एक नया सम्प्रदाय प्रारम्भ कर देता है, उसमें प्रतीक्षा के लिए तनिक धैर्य नहीं होता। अतः तुम्हें अपने संघ के लिए अटूट श्रद्धा का भाव रखना चाहिए। यहाँ आज्ञाभंग के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

हमारे शिविर में एक भी द्रोही न रहे। तुम पवन के समान उन्मुक्त रहो, किन्तु साथ ही इस पौधे एवं श्वान के समान आज्ञाकारी भी बनो।

संन्यास : समय की माँग

हममें से कुछ लोग इस प्रपंच से अलग रहें और केवल परमात्मा के लिए जीवित रहें। संसार के लिए धर्म की रक्षा करें। यदि तुम वैराग्य धारण करो, तो दृढ़तापूर्वक डटे रहो। यदि इस युद्ध में सैकड़ों गिर जायें तो भी पताका को थामे रहो और बढ़ते जाओ। चिन्ता नहीं हो कि कौन गिरता है, सत्य संकल्प के पीछे भगवान् स्वयं विद्यमान हैं ही। जो गिरे वह पताका को दूसरे हाथों में सौंप दे, तब वह कभी नहीं गिर सकेगी।

जीवन की क्षुद्र मर्यादाओं में बँधे वे बेचारे गृहस्थ कर ही कितना सकते हैं? यह संन्यासियों का कार्य है, शिव के गणों का कार्य है कि आकाश को “हर! हर! शम्भो” के निनाद से गुंजायमान कर दें।

मेरी समस्त भावी आशा उन युवकों में केन्द्रित हैं जो चरित्रवान हों, बुद्धिमान हों, लोकसेवा हेतु सर्वस्व त्यागी और आज्ञापालक हों, जो मेरे विचारों को क्रियान्वित करने के लिए और इस प्रकार अपने तथा देश के व्यापक कल्याण के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सके। अन्यथा, साधारण श्रेणी के लड़के झुण्ड के झुण्ड आते हैं और आते रहेंगे। उनके मुख निस्तेज हैं, उनके हृदय कर्मचेतना से शून्य हैं। उनके शरीर दुर्बल हैं और कठोर परिश्रम करने के योग्य नहीं हैं, उनमें साहस का अभाव है। ऐसे लोगों के द्वारा क्या कार्य हो सकेगा? यदि मझे नचिकेता की श्रद्धा से सम्पन्न केवल दस या बारह युवक मिल जायें तो मैं इस देश के विचारों और कार्यों को एक नयी दिशा में मोड़ सकता हूँ।

जिनमें मुझे कुछ अधिक दीख पड़ती है उनमें से कुछ विवाह के बन्धन में बँध गए हैं। कुछ ने स्वयं को नाम, प्रतिष्ठा या धन कमाने के लिए बेच डाला है और कुछ शरीर से दुर्बल हैं। शेष जिनकी संख्या अधिक हैं, किसी उच्च भाव को ग्रहण करने में ही समर्थ नहीं है।

निस्सन्देह... क्योंकि ईश्वरीय इच्छा से इन्हीं लड़कों में से कुछ समय बाद आध्यात्मिकता और कर्म-शक्ति के महान पुञ्ज उदित होंगे, जो भविष्य में मेरे विचारों को क्रियान्वित करेंगे।

शिक्षित युवकों को संगठित करो

शिक्षित युवकों में कार्य करो, उन्हें एकत्र लाओ और संगठित करो। महान त्याग के द्वारा ही महान कार्य सम्भव है... करो, मेरी योजना, मेरे विचारों को क्रियान्वित करो। मेरे वीर, श्रेष्ठ, उदात्त बन्धुओ ! अपने को कार्यचक्र में लगा दो, कार्यचक्र पर जुट जाओ। मत ठहरो, पीछे मत देखो- न नाम के लिए, न यश के लिए और न ऐसी ही किसी अन्य

निरर्थक वस्तु के लिए। व्यक्तिगत अहंमन्यता को एक ओर फेंक दो और कार्य करो। स्मरण रखो, “घास के अनेक तिनकों को जोड़कर जो रस्सी बनती है उससे एक उन्मत्त हाथी को भी बाँधा जा सकता है।”

श्रीरामकृष्ण से मेरी प्रार्थना

अब मैं सार्वभौमिक समन्वय के सन्देश के प्रदाता जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करता हूँ कि वे स्वयं को तुम्हारे अन्तःकरण में प्रकाशित करें, ताकि तुम समस्त ऐहिक कामनाओं से ऊपर उठकर साहसपूर्ण हृदय से अन्यो को भी माया-मोह के भीषण भँवर से बाहर निकाल सको।

तुम सदैव शौर्य से सम्पन्न रहो। केवल वीर ही मुक्ति को सरलतापूर्वक पा सकता है, न कि कायर। कमर कसो, ओ वीरो ! तुम्हारे सामने शत्रु खड़ा है - यह माया-मोह की क्रूर सेना। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि समस्त महान सफलताओं के मार्ग नाना बाधाओं से भरे हैं किन्तु तब भी तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकतम प्रयत्न करते रहो।

ओ वीर आत्माओ ! आगे बढ़ो, आगे बढ़ो ! उन्हें मुक्त कराने के लिए जो जंजीरों से जकड़े हुए हैं, उनका बोझा हल्का करने के लिए जो दुःख के भार से लदे हैं, उन हृदयों को आलोकित करने के लिए जो अज्ञान की गहन तमस में डूबे हुए हैं। सुनो ! वेदान्त डंके की चोट पर घोषणा कर रहा है, - ‘अभीः’ (निर्भय बनो) ईश्वर करे, यह पवित्र स्वर धरती के समस्त प्राणियों के हृदयों की ग्रन्थियाँ खोलने में समर्थ हो।

ओ हिन्दुओ ! मोहनिद्रा को त्यागो

हम प्रत्येक आत्मा को आह्वान करें, उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!! अर्थात् उठो, जागो और जब तक लक्ष्य प्राप्त न कर लो, कहीं मत ठहरो। उठो ! जागो !! दौर्बल्य के मोहजाल से निकलो, कोई वास्तव में दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है। खड़े हो, स्वयं को झकझोरों, अपने अन्दर व्याप्त ईश्वर का आह्वान करो। उसकी सत्ता को अस्वीकार मत करो। हमारी जाति पर बहुत अधिक निष्क्रियता, बहुत अधिक दुर्बलता और बहुत अधिक मोहजाल छाया रहा है और अब भी है।

ऐ हिन्दुओ ! इस मोहजाल को उतार फेंको। इससे मुक्त होने का मार्ग वही है जो तुम्हारे पवित्र शास्त्रों में वर्णित है।

अपने सच्चे रूप को स्वयं समझो और अन्य प्रत्येक को सिखाओ। सुप्त आत्मा को जगाओ और फिर देखो वह कैसे जगती है। एक बार जहाँ यह सुप्त आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर कार्यक्षेत्र में उतरी कि तुम्हारे पास प्रभुता, कीर्ति, शुचिता, ऋजुता और अन्य जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण हैं, सब अपने आप चले आयेंगे।

पुनर्युवा उज्ज्वल भारत

मैं भविष्य को नहीं देखता, न ही उसे जानने की चिन्ता करता हूँ। किन्तु, एक दृश्य मैं अपने मनश्चक्षुओं से स्पष्ट देख रहा हूँ, “यह प्राचीन मातृभूमि एक बार पुनः जाग गई है और अपने सिंहासन पर आसीन है- पहले से कहीं अधिक गौरव एवं वैभव से प्रदीप्त। शान्ति और मंगलमय स्वर में उसकी पुनः प्रतिष्ठा की घोषणा समस्त विश्व में करो।”





स्वामी विवेकानन्द सार्ध शती समारोह

स्वामी विवेकानन्द सार्ध शती समारोह श्रृंखला

पुष्प : ३

हे हिन्दू राष्ट्र उत्तिष्ठत ! जाग्रत !!

सन् १९६३ में स्वामी विवेकानन्द के जन्म शताब्दी समारोह के दौरान माननीय श्री एकनाथ रानडेजी ने **Swami Vivekananda's Rousing Call to Hindu Nation** - हे हिंदु राष्ट्र ! उत्तिष्ठत जाग्रत !! नामक ग्रन्थ का संकलन कार्य कर इसे राष्ट्र को समर्पित किया था। स्वामी विवेकानन्द का प्रेरणादायी व स्फूर्तिदायक संदेश भारत के आम-जन तक पहुँचाना ही इस ग्रन्थ के संकलन का उद्देश्य था। स्वामी जी ने कहा था, भारत तभी जागृत हो सकता है, जब सैंकड़ों निःस्वार्थ युवक एवं युवतियां अपने जीवन की समस्त इच्छाओं व सुख-सुविधा को त्याग कर स्वयं को अपने लाखों देशवासियों की सेवा में समर्पित कर दे। यह प्रेरणादायी पुस्तक युवाओं से यही प्रश्न पूछती है, “क्या मैं स्वामी जी के उन सैंकड़ों अपेक्षित युवाओं में से एक हूँ?” यह अत्यंत आवश्यक है कि अधिकाधिक युवा स्वयं से यह प्रश्न पूछें और इसका उत्तर हाँ में दे। भारत का उत्थान केवल तभी संभव है। ‘महान कार्यों की पूर्ति केवल महान त्याग के द्वारा ही हो सकती है।’

₹ 20/-

Website-www.sv150.org